ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

विषापहार स्तोत्र प्रवचन

कविवर धनञ्जय रचित विषापहार स्तोत्र पर
आत्मज्ञ सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के अक्षरशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णाकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250
फोन : 02846-244334

विक्रम संवत 2077

वीर संवत 2547

ई. सन 2020

—: प्रकाशन :—

अष्टाह्निका महापर्व
कार्तिक शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा
के पावन अवसर पर

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

प्रकाशकीय

कविवर धनञ्जय द्वारा रचित भगवान श्री आदिनाथ जिनेन्द्र का भक्ति काव्य '**विषापहार स्तोत्र**' पर हुए आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भक्तिरसपूर्ण प्रवचनों का सङ्कलन '**विषापहार प्रवचन**' प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् १९७८ की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसारस्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार ४५ वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनसमुद्र का एक भक्तिमय बिन्दु है—विषापहार स्तोत्र पर आपश्री के अक्षरशः प्रवचन। प्रत्येक प्रवचन में भूतार्थ ज्ञायकस्वभाव के आश्रय को केन्द्रबिन्दु में रखकर आयी हुई उनकी प्रवचनशैली वस्तुतः हृदयस्पर्शी है। अनेक शास्त्रों पर पूज्य गुरुदेवश्री की वीतरागतासभर वाणी का संग्रह वर्तमान मुमुक्षु समाज को उपलब्ध है, जो महाभाग्य की बात है। प्रस्तुत विषापहार स्तोत्र के प्रवचन मुमुक्षु जीव को आत्महित में अवश्य उपकारी हों ऐसे हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय देशना मुमुक्षु जीव के अन्तःकरण को जागृत करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने के लिये अवश्य प्रेरणास्पद होती है। अध्यात्मरस सभर शैली, आत्महित को प्रगटरूप से दर्शानेवाली

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्य देशना का वर्णन करने में हम असमर्थ हैं, तथापि आपश्री को प्राप्त श्रुतलब्धि के प्रति तथा भवनाशक भगवती प्रज्ञा के प्रति अहोभावपूर्वक पवित्र चरणों में नतमस्तक हैं।

पूज्य गुरुदेव महिमाप्रकाशक तद्भक्त भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन तथा अन्य धर्मात्माओं को स्मरण में लेकर उनके श्री चरणों में वन्दन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को ओडियो टेप में उतारने का महान कार्य शुरु करनेवाले श्री नवनीतभाई झवेरी का इस प्रसंग पर आभार व्यक्त करते हैं तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ ने इस पवित्र कार्य को अविरल धारा से चालू रखा और सम्हालकर रखा, तदर्थ उनके आभारी है। तत्पश्चात् दिव्य वीतरागवाणी को सी.डी., डीवीडी तथा वेबसाईट www.vitragvani.com के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने के पवित्र कार्य का सौभाग्य श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई को सम्प्राप्त हुआ। इन्हीं प्रवचनों को ग्रन्थारूढ़ करने का विशेष सौभाग्य भी ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। इसलिए इस प्रसंग में विषापहार स्तोत्र पर हुए प्रवचन जो बाद में उपलब्ध हुए, उन्हें एकत्रित कर प्रस्तुत पुस्तक में प्रकाशित किया गया है।

सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में पूर्ण सावधानी रखी गयी है। इन प्रवचनों को सुनकर गुजराती भाषा में ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य पूजा इम्प्रेशन्स, भावनगर तथा श्रीमती वीणाबेन नन्दु, चेंबुर द्वारा किया गया है और जाँचने का कार्य मंजुबेन गाला, सांताक्रुज तथा वीणाबेन नन्दु द्वारा किया गया है। हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज भी इन प्रवचनों का भरपूर लाभ ले, इस उद्देश्य से समग्र प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण एवं सीडी से मिलान कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राज.) द्वारा किया गया है। इस प्रसंग पर ट्रस्ट सभी सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करता है। जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर और जवाबदारी पूर्ण होने से अत्यन्त जागृतिपूर्वक तथा उपयोगपूर्वक किया गया है, तथापि प्रकाशनकार्य में प्रमादवश अथवा अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो समस्त वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति क्षमा याचना करते हैं। ट्रस्ट मुमुक्षुजनों से निवेदन करता है कि अशुद्धियों को ट्रस्ट की जानकारी में लायें, जिससे आगामी आवृत्ति में सुधार किया जा सके। यह प्रवचन www.vitragvani.com पर उपलब्ध है।

पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावना के साथ विराम पाते हैं।

ट्रस्टीगण
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

प्रस्तावना

कविवर धनंजय द्वारा रचित भगवान श्री आदिनाथ जिनेन्द्र का भक्ति काव्य विषापहार स्तोत्र पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मंगल प्रवचन 'विषापहार स्तोत्र प्रवचन' ग्रन्थरूप से प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है। प्रस्तुत काव्य पर गुरुदेवश्री के प्रवचन दिनांक 28 अगस्त से 03 सितम्बर, ईस्वी सन् 1962 पर्यन्त हुए थे, जो अभी तक अप्रकाशित थे। भक्तामर स्तोत्र के मांगलिक प्रवचनों के समान विषापहार स्तोत्र पर हुए प्रवचन भी अवश्य तत्त्वप्रेमी समाज में प्रिय होंगे, ऐसी मंगल भावना है।

विषापहार स्तोत्र एक भक्ति काव्य है, जिसमें इस युग के आदि तीर्थङ्कर भगवान श्री आदिनाथ की स्तुति की गयी है।

वस्तुतः जैनदर्शन व्यक्ति-पूजा में नहीं, गुणों की पूजा में विश्वास रखता है। यही कारण है कि जैन साहित्य में उपलब्ध प्रायः सभी स्तुतियों में गुणों के माध्यम से ही अपने आराध्य की स्तुति या भक्ति की गयी है।

जैन आगम में भक्ति का स्वरूप दर्शानेवाले कुछ आगम-उद्धरण इस प्रकार हैं —

अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्ति।

अर्थात् अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय आदि बहुश्रुत सन्तों और जिनवाणी के प्रति भावों की विशुद्धिपूर्वक जो प्रशस्त अनुराग होता है, उसे **भक्ति** कहते हैं। *(- सर्वार्थसिद्धि, 6/24)*

अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः।

अर्थात् अर्हदादि के गुणों में प्रेम करना **भक्ति** है। *(- भगवती आराधना, 47/159)*

मोक्खंगय पुरिसाणां गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं॥

अर्थात् जो जीव मोक्षगत पुरुषों के गुणों के भेद जानकर, उनकी भी परमभक्ति करता है, उस जीव को व्यवहारनय से **निवृत्ति भक्ति** कही है। *(- नियमसार, गाथा 135)*

भक्ति पुनः सम्यक्त्वं भण्यते, व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा।

अर्थात् व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के द्वारा पञ्चपरमेष्ठी की आराधनारूप **सम्यक् भक्ति** होती है। *(- समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, 173-176)*

निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्ध-रत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः।

अर्थात् निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-अवबोध-आचरणस्वरूप शुद्ध रत्नत्रयपरिणामों का जो भजन है; वह **भक्ति** है, आराधना है — ऐसा उसका अर्थ है।

(- नियमसार तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा 134)

भक्तिः पुनः निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टिनां शुद्धात्मतत्त्व-भावनारूपा चेति।

अर्थात् निश्चयनय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्ध आत्मतत्त्व की भावनारूप **भक्ति** होती है। *(- समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, 173-176)*

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी धर्मात्माओं को, सविकल्प दशा में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाला गुणानुरागरूप प्रशस्तभाव व्यवहार भक्ति है और स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतरागभावरूप शुद्धपरिणति व शुद्धोपयोग निश्चयभक्ति है।

नियमसार के परम भक्ति अधिकार में निवृत्ति भक्ति का स्वरूप निश्चय-व्यवहारनयों से तीन गाथाओं में तथा योग भक्ति का स्वरूप चार गाथाओं में विस्तार से आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव एवं टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने व्यक्त किया है।

आद्यस्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र ने तो आप्त को नमस्कार करने से पूर्व उनमें आवश्यक गुणों की परीक्षा भी की है तथा जिनमें वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता विद्यमान हो, उन्हें ही आप्त के रूप में स्वीकृत किया है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने अपनी सर्वाधिक लोकप्रिय कृति मोक्षमार्गप्रकाशक में पूज्यत्व का कारण दर्शाते हुए लिखा है —

'रागादि विकारों से व ज्ञान की हीनता से तो जीव निन्दा योग्य होते हैं और रागादिक की हीनता व ज्ञान की विशेषता से जीव स्तुति योग्य होते हैं।' *(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 4)*

इसी प्रकार का भाव पण्डित दौलतरामजी ने भी व्यक्त किया है —

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिके॥

(- छहढाला, मङ्गलाचरण)

इस प्रकार पूज्यत्व का कारण वीतराग-विज्ञानता ही है।

जैनमतानुसार ईश्वर अथवा आराध्य, वीतराग होने से न तो अपनी स्तुति से प्रसन्न ही होते

हैं और न अपनी निन्दा से अप्रसन्न, फलत: वे अपने प्रशंसकों को अथवा निन्दकों को इष्टानिष्ट फल नहीं देते; बल्कि जो जीव उनका सही स्वरूप पहिचानकर, उनकी भक्ति-स्तुति करता है, वह भी उन जैसा बनने की प्रेरणा पाकर, तदनुसार पुरुषार्थ करके उस दशा को उपलब्ध कर लेता है।

वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा का आराधक, वीतरागता का ही उपासक होता है — इस कारण उसके द्वारा की जानेवाली स्तुति अथवा भक्ति में किसी भी प्रकार की लौकिक कामना निहित नहीं होती।

आचार्य उमास्वामी के मतानुसार उपास्य की उपासना का एकमात्र प्रयोजन **वन्दे तद्गुणलब्धये** अर्थात् 'उन जैसे गुणों की प्राप्ति है'। किसी भी लौकिक प्रयोजन से की जानेवाली भक्ति में भोगों एवं संयोगों की रुचि निहित रहने से पाप का ही बन्ध होता है।

इस सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी का निम्न कथन विचारणीय है —

'अरहन्तादिक के नाम पूजनादिक से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर, रोगादिक मिटाने के अर्थ व धनादिक की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजादिक करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहन्त तो कर्ता हैं नहीं। अरहन्तादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्वपाप के संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहन्तादिक की भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है, उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ; काँक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए, उनसे पूर्वपाप के संक्रमणादि कैसे होंगे?' *(- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222)*

अन्य दर्शनों की भाँति जैनदर्शन भक्ति को मुक्ति का कारण भी स्वीकार नहीं करता। भक्ति तो कुस्थान में राग के निषेध के लिए की जाती है।

इस सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं —

'कितने ही जीव भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। यह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ; परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं हैं। जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो; इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग को बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं; परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते; शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।' *(- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222)*

इसी प्रकार का भाव पञ्चास्तिकाय में भी व्यक्त किया है —

इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्रराग-ज्वरविनोदार्थमस्थानरागनिषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोपि भवति।

अर्थात् यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिनके, ऐसे अज्ञानी जीव के होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती है। *(- पञ्चास्तिकाय, गाथा 136)*

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि जैनदर्शन में भक्ति को न तो मुक्ति का कारण माना गया है और न लौकिक भोगोपभोग सामग्री का प्रदाता। सचमुच में जिनेन्द्रदेव की भक्ति तो विषय-कषायरूप महा अशुभभाव से बचने के साथ-साथ स्वयं उन जैसा बनने के उद्देश्य से किया जानेवाला वह मन्दकषायरूप अनुष्ठान है, जो पुण्यबन्ध का कारण है तथा यदि जीव उस समय उन जैसा बनने के लिए शुद्धोपयोगरूप परिणमन करता है तो इस भक्ति के अनुष्ठान को निश्चय मोक्षमार्ग का साधक होने से परम्परा से मुक्ति का कारण भी कहा जाता है।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने तो नियमसार की टीका करते हुए कलश 12 में यहाँ तक कहा है — 'भव के भय के भेदनेवाले इन जिनेन्द्र के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? तब तो तू भवसमुद्र के मध्य स्थित मगर के मुख में स्थित है।'

इसी प्रकार आचार्य पद्मनन्दि ने अपने लोकप्रिय ग्रन्थ पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका में जिनेन्द्रभक्ति की महिमा का वर्णन करनेवाले कई प्रकरण लिखकर, अपने हृदय में समाहित जिनभक्ति को शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

तार्किक चूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र तो आद्यस्तुतिकार के रूप में जाने ही जाते हैं। उनके द्वारा रचित भक्ति काव्यों में जहाँ भगवान के भरपूर गुणगान किये गये हैं, वहीं भगवान को परीक्षा की कसौटी पर कसने से भी वे नहीं चूके हैं।

इसी तरह सम्पूर्ण जिनागम के रचयिता भावलिङ्गी सन्तों ने यत्र-तत्र -सर्वत्र अपने ग्रन्थों में जिनभक्ति के स्वर गुञ्जायमान किये हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित प्रवचनसार परमागम में, मङ्गलाचरण की पाँच गाथाओं की टीका में, आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव ने ज्ञानी मुनिराजों के हृदय में उत्पन्न भक्तिभाव का कारण, उनकी भूमिका में विद्यमान कषायकण को माना है। साथ ही पञ्चास्तिकाय में तो अरहन्तादि के प्रति जिसका चित्त अनुराग से प्रेरित है, उसका निर्वाण अतिशय दूर है — ऐसा भी प्रतिपादित किया है। मूल गाथा इस प्रकार है -

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स॥

(- पञ्चास्तिकाय, गाथा 170)

सचमुच ही ज्ञानियों के जीवन की यह द्विरूपता आश्चर्यजनक सत्य है। एक ओर जहाँ वे भक्ति के राग को कषायकण या निर्वाण दूरतर है — इत्यादि कहकर उपेक्षित करते हैं; वहीं दूसरी ओर रागात्मक भूमिका में भगवत् भक्ति से पराङ्मुख जीवों को भवसमुद्र में डूबा हुआ कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रद्धा में राग को अत्यन्त उपेक्षणीय मानते-जानते हुए भी, जब तक सम्पूर्ण राग का अभाव नहीं हो जाता, ज्ञानीजनों को भी जिनेन्द्रभक्ति इत्यादि का शुभभाव आए बिना नहीं रहता।

यद्यपि शुभराग आना चारित्रिक कमजोरीरूप दोष है; परन्तु शुभराग को उपादेय मानना तो विपरीत श्रद्धारूप महा-अपराध है। दोष क्षम्य हो सकता है; अपराध नहीं।

ये सब ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें ज्ञानीजनों की एक लम्बी परम्परा ने उद्घाटित किया है। उन्हीं ज्ञानीजनों की परम्परा के पुनीतप्रवाह में, वर्तमान सदी के महापुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अपने प्रवचन एवं तत्त्वचर्चाओं में इन सभी तथ्यों का आत्महितकारी तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत कर, मुमुक्षु जगत को धन्य कर दिया है।

इस प्रकार भक्ति के सन्दर्भ में कुछ विचारणीय तथ्य यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। विस्तार से जानने की अभिलाषावाले विज्ञपाठकों को जिनागम का गहन अभ्यास करना चाहिए।

निश्चय भक्ति का स्वरूप विचार करने हेतु मैं विज्ञ पाठकों से समयसार गाथा 31 से 33 तक के प्रकरण पर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, जहाँ **निश्चयस्तुति** का विचार किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री को भी उक्त गाथाएँ अत्यन्त प्रिय थीं और इन पर उन्होंने विस्तार से प्रवचन भी किये हैं। पाठक उन्हें भी प्रवचन रत्नाकरों अथवा प्रवचनों की सी.डी./ कैसेट के माध्यम से उनका भी अवश्य अध्ययन/श्रवण/मनन करें।

वर्तमान युग में समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों के हार्द को अपने मङ्गल प्रवचनों के माध्यम से सरलतम भाषा में प्रस्तुत करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने कई भक्तिपरक काव्यों पर भी भावविभोर होकर प्रवचन किये हैं, जो उनके हृदय में विद्यमान जिनेन्द्रभक्ति के अमर स्मारक हैं। इस स्तोत्र के भावों को माध्यम बनाकर पूज्य स्वामीजी ने अध्यात्म की अलौकिक युक्तियाँ इसमें से निकाली हैं। स्वामीजी ने स्तोत्रों पर आधारित प्रवचनों में भक्तामर स्तोत्र, विषापहार स्तोत्र, ऋषभ स्तोत्र, जिनदर्शन स्तोत्र एवं शान्तिनाथ स्तोत्र इत्यादि प्रमुख हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के निश्चयपरक प्रवचनों के भरपूर प्रकाशन एवं व्यवहारपरक प्रवचनों का उस मात्रा में प्रकाशन न होने से, जनसाधारण में उनके प्रति इस प्रकार की भ्रान्त धारणा बलवान हो गई कि स्वामीजी व्यवहार को उड़ाते हैं। जबकि सत्य तो यह है कि पूज्य गुरुदेव ही वर्तमान शताब्दी में निश्चयसापेक्ष व्यवहार के एकमात्र स्थापितकर्ता हैं। स्वयं उनके श्रावक-धर्म-प्रकाश, मुक्ति का मार्ग, अमृतझरना, भक्तामर रहस्य, जिनप्रतिमा जिनसारखी, पद्मनन्दि पंचविंशति प्रवचन, पुरुषार्थसिद्धि -उपाय प्रवचन इत्यादि इसके सबल प्रमाण हैं।

इसी श्रृंखला को आगे बढ़ाते हुए श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट ने ने विषापहार स्तोत्र पर हुए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती एवं हिन्दी प्रवचनों का शब्दशः प्रकाशन किया है।

धनञ्जय कवि रचित इस स्तोत्र में चालीस काव्य हैं और एक-एक काव्य में जिनेन्द्रदेव की अलग-अलग प्रकार से स्तुति कर वीतरागता की अनुमोदना को व्यक्त किया गया है।

इस स्तोत्र के साथ एक कथा भी जुड़ी हुई है—धनञ्जय कवि जिनेन्द्र पूजन में तल्लीन थे। उनके इकलौते पुत्र को सर्प काट लेता है। बारम्बार बुलाने पर भी जब उनकी तन्मयता खण्डित नहीं होती, तब पुत्र की माता गुस्से में बेहोश पुत्र को लाकर उनके सामने डाल देती है, किन्तु इसका आभास भी उन्हें नहीं होता। जिनभक्ति की तन्मयता में ही इस स्तोत्र की रचना हो जाती है और भाग्योदय से उनके पुत्र का विष उतर जाता है, इस कारण यह स्तोत्र 'विषापहार' के नाम से सुविख्यात हो गया है। यद्यपि कवि ने इस प्रकार की कोई कामना या याचना नहीं की है।

इस स्तोत्र में जिनागम के कई महत्वपूर्ण न्याय भरे पड़े हैं, जिनका विवेचन पूज्य गुरुदेवश्री ने इन प्रवचनों में किया है।

प्रस्तुत प्रकाशन के सन्दर्भ में.....

इस प्रवचन ग्रन्थ में मूल श्लोक, उसका हिन्दी पद्यानुवाद और डॉ. पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा लिखित अन्वयार्थ एवं भावार्थ भी दिया गया है। ध्यान रहे कि पूज्य गुरुदेवश्री ने इसी टीका के आधार पर प्रवचन किये हैं एवं इसी पद्यानुवाद को अपने प्रवचनों में स्थान दिया है। पद्यानुवादकर्ता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है परन्तु पद्यानुवाद के अन्त में 'प्रेमी' शब्द से कुछ सूचना मिलती है, शायद उनका उपनाम 'प्रेमी' होगा। अतः उनके प्रति परोक्षरूप से आभार प्रदर्शन करते हैं एवं अनुवादकर्ता आदरणीय पण्डितजी के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनसमुद्र का एक दिव्य बिन्दु है—विषापहार स्तोत्र पर उनके

अक्षरशः प्रवचन। प्रत्येक प्रवचन में भूतार्थ ज्ञायकस्वभाव के आश्रय को केन्द्रबिन्दु में रखकर आयी हुई उनकी प्रवचनशैली वस्तुतः हृदयस्पर्शी है। अनेक शास्त्रों पर पूज्य गुरुदेवश्री की वीतरागता सभर वाणी का संग्रह वर्तमान मुमुक्षु समाज को उपलब्ध है, जो महाभाग्य की बात है। प्रस्तुत स्तोत्र पर प्रवचन मुमुक्षु जीव के आत्महित में अवश्य उपकारी हों, ऐसे हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय देशना मुमुक्षु जीव के अन्तःकरण को जागृत करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने के लिये अवश्य प्रेरणास्पद होती है। अध्यात्मरस सभर शैली, आत्महित को प्रगटरूप से दर्शानेवाली पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्य देशना का वर्णन करने में असमर्थ हैं, तथापि आपश्री को प्राप्त श्रुतलब्धि के प्रति तथा भवनाशक भगवती प्रज्ञा के प्रति अहोभावपूर्वक पवित्र चरणों में नतमस्तक हैं।

पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्महित को साधें, इसी पवित्र भावना के साथ।

ट्रस्टीगण
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का**

श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित

सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनांक	गाथा	पृष्ठ क्रमांक
01	27.08.1962	काव्य - 1 से 5	01
02	28.08.1962	काव्य - 6 से 9	28
03	29.08.1962	काव्य - 10 से 14	53
04	30.08.1962	काव्य - 15 से 20	80
05	31.08.1962	काव्य - 20 से 25	109
06	01.09.1962	काव्य - 26 से 31	135
07	02.09.1962	काव्य - 32 से 40	163

ॐ

श्री परमात्मने नमः

विषापहार स्तोत्र प्रवचन

(अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के 'श्री विषापहार स्तोत्र' पर प्रवचन)

श्रावण कृष्ण १३, सोमवार, दिनांक : २७-८-१९६२
काव्य - १ से ५, प्रवचन नं.-01

यह एक विषापहार स्तोत्र। भगवान परमात्मा की स्तुति, प्रशंसा और बहुमान करने का जो स्वरूप, उसे यहाँ स्तुति कहा जाता है। वास्तव में इसमें तो आत्मभगवान की स्तुति है। भगवान आत्मा अमृतस्वरूप है। उसकी पर्याय-प्रजा में राग-द्वेष की एकता ऐसा जहर, उसकी पर्याय में जहर है, अनादि का। उसे नाश करने का चैतन्यमूर्ति अमृतस्वरूप उसकी अन्दर में एकाग्रता की भक्ति उस जहर को नाश करने का उपाय है। सेठी!

ऐसे तो यह धनंजय महाकवि हो गये हैं। लगभग आठवीं शताब्दी में, आज से १२०० वर्ष लगभग पहले। मालवा में उज्जैन नगरी में। लो उज्जैन है या नहीं? यहाँ उज्जैन का कौन है? उज्जैन नगरी में यह महा (कवि) धनंजय एक सेठ थे। गृहस्थ थे। मानतुंग आचार्य के समय में उनके ये भक्त थे। समझ में आया? उन मानतुंग आचार्य की भक्ति करते थे। उसमें से स्वयं को भी महाकविपना और भगवान के भक्तराज ऐसी स्थिति उन्हें उत्पन्न हुई।

एक बार घर में उनके पुत्र को सर्पदंश हुआ। उस सर्पदंश से पुत्र बेभान हो गया। महिला को खबर पड़ी। सेठ को बुलाया। जाओ भाई भगवान की स्तुति में बैठे हैं तो बुलाओ, यह लड़का मर गया। मर क्या गया परन्तु जहर चढ़ा है इस सर्प का। स्वयं तो अन्दर विचार की धारा में, भगवान की भक्ति और आत्मा की भक्ति में इतने लवलीन थे कि उन्होंने यह भी सुना नहीं। अन्त में लड़के को उसकी माँ वहाँ मुर्दे को डाल गयी। मुर्दा अर्थात् सर्प डसा हुआ, बेभान पुत्र को डाल गयी। उसे खबर नहीं कि यहाँ लड़का है। स्वयं तो अन्दर विचारधारा में चढ़े और अन्दर में यह कविपने की शक्ति थी, इसलिए यह एक स्तोत्र बनाया है। यह स्तोत्र बना, इसलिए यहाँ बनाया, इसलिए यह जहर उतरेगा ऐसी भी वहाँ इच्छा नहीं थी। परन्तु ऐसा ही कोई मेल हो गया कि भक्ति में धुन में चढ़ते हुए यह रचना ४० श्लोक की हुई। उसमें भी जहाँ यह १४वाँ आदि श्लोक जहाँ शुरु हुआ, वहाँ उसका जहर उतर गया। पुत्र का जहर उतर गया। सर्प का जहर। समझ में आया? उस समय पश्चात् इसका नाम इस स्तोत्र का विषापहार नाम दिया गया है।

कहते हैं भगवान की स्तुति करते हुए.... यह वास्तव में ऋषभदेव भगवान की स्तुति है। आद्यब्रह्मा, पहले तीर्थंकर की यह स्तुति है बाह्य में और अन्तर में आद्यब्रह्मा परमात्मा स्वयं। उसकी आद्य—शुरुआत साधकपने प्रगट करते हैं, इस प्रकार आत्मा की स्तुति का वर्णन किया है।

काव्य १

(उपजाति छन्द)

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्त-
व्यापारवेदी विनिवृत्तसङ्गः।
प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः,
पायादपायात्पुरुषः पुराणः॥

(वीर छन्द)

अपने में ही स्थिर रहता है और सर्वगत कहलाता।
सर्व सङ्ग-त्यागी होकर भी सब व्यापारों का ज्ञाता॥
काल-मान से वृद्ध बहुत है, फिर भी अजर-अमर स्वयमेव।
विपदाओं से सदा बचावे, वह पुराण पुरुषोत्तम देव!॥

अन्वयार्थ — (स्वात्मस्थितः अपि सर्वगतः) आत्मस्वरूप में स्थित होकर भी सर्वव्यापक; (समस्तव्यापारवेदी अपि) सब व्यापारों के जानकार होकर भी (विनिवृत्तसङ्गः) परिग्रह से रहित; (प्रवृद्धकालः अपि अजरः) दीर्घ आयुवाले होकर भी बुढ़ापे से रहित तथा (वरेण्यः) श्रेष्ठ (पुराणः पुरुषः) प्राचीन पुरुष भगवान् वृषभनाथ! (नः) हम सबको (अपायात्) विनाश से (पायात्) बचावें—रक्षित करें।

भावार्थ — इस श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार है। इस अलङ्कार में सुनते समय विरोध मालूम होता है, पर बाद में अर्थ का विचार करने से उसका परिहार हो जाता है। देखिए — जो अपने स्वरूप में स्थित होगा, वह सर्वव्यापक कैसे होगा ? यह विरोध है; पर उसका परिहार यह है कि पुराण पुरुष, आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, तथापि उनका ज्ञान सब जगह के पदार्थों को जानता है; इसलिए ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत है।

जो सम्पूर्ण व्यापारों को जाननेवाला है, वह परिग्रहरहित कैसे हो सकता है ? यह विरोध है; इसका परिहार यह है कि आप सर्व पदार्थों के स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिवर्तनों को जानते हुए भी कर्मों के सम्बन्ध से रहित हैं। इसी तरह दीर्घायु से सहित

होकर भी बुढ़ापे से रहित हैं, यह विरोध है; इसका परिहार इस तरह है कि महापुरुषों के शरीर में वृद्धावस्था का विकार नहीं होता अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा वे कभी भी जीर्ण नहीं होते। इस तरह इस श्लोक में विघ्न बाधाओं से अपनी रक्षा करने के लिए पुराण पुरुष से प्रार्थना की गयी है।

काव्य - १ पर प्रवचन

पहला श्लोक (काव्य)।

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्त-
व्यापारवेदी विनिवृत्तसङ्गः।
प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः,
पायादपायात्पुरुषः पुराणः॥

हे पुराणपुरुष! ऐसा कहकर शुरु किया है। सर्वज्ञ परमात्मा ऋषभदेव को भी इस काल के आद्यब्रह्मा धर्म के कर्ता। ऐसे वे पुराणपुरुष हैं। ऐसे देखें तो आत्मा पुराण पुरुष है। चैतन्यमूर्ति अनादि-अनन्त पुराण पुरुष, अनादि-अनन्त भगवान आत्मा है। उसे लेकर-लक्ष्यकर बात की है। '**पुरुषः पुराणः**' इसका अर्थ जरा टीकाकार ने पहला किया कि पुरुष प्रमाण है न ? पुराणपुरुष श्रीमद् आदि ब्रह्मा। पुरिष इति अथो पुरुषः। आता है न भाई! पुरुषार्थसिद्धिउपाय में ? पुरुषार्थसिद्धिउपाय में। उसमें होगा संस्कृत टीका है न ? हाँ, उसमें है। इसमें यह ही है न।

अपने चैतन्यपुर, आनन्दपुर में जो शयन करे, उसे पुरुष कहा जाता है। समझ में आया ? विकार और पुण्य-पाप में शयन करके सो रहा है, उसे नपुंसक कहा जाता है। भगवान आत्मा अनन्त ज्ञानादि चैतन्यपुर में जो शयन अर्थात् एकाकार होकर रमे, उसे पुराण पुरुष ऐसे आत्मा को पुराण पुरुष कहा जाता है। भगवान को भी पुराण पुरुष से सम्बोधन करके भगवान की स्तुति करते हैं।

'स्वात्मस्थितः अपि सर्वगतः' हे नाथ! आप आत्मस्वरूप में स्थित होकर भी सर्वव्यापक.... ऐसे देखो तो आत्मा के स्वरूप में ऐसे स्थित हो। ऐसे देखें तो विरोध

(दिखता है)। यह विरोध परिहार, यह जहर का विरोध है न, उसका परिहार करने को, यह विरोध परिहार अलंकार से यह स्तुति की है। हे भगवन्त! **आत्मस्वरूप में स्थित होकर भी सर्वव्यापक....** अर्थात् सबको जानने की सामर्थ्य है, (इसलिए) आप सर्वव्यापी हो। **सब व्यापारों के जानकार होकर भी....** हे नाथ! सब व्यापार जगत के द्रव्य-गुण-पर्याय के सबके जाननेवाले होने पर भी **परिग्रह से रहित हो**। कोई द्रव्य-गुण-पर्याय आपको पर की पकड़ में आती नहीं। किसी की पकड़ की नहीं। जाने सबको, पकड़ किसी की नहीं। समझ में आया?

और **दीर्घायुवाले होकर भी बुढ़ापा से रहित....** हे नाथ! आपका आयुष्य भी बड़ा था, तथापि आपको वृद्धावस्था आयी नहीं थी। तीर्थंकर को वृद्धावस्था नहीं होती। जीर्ण-शीर्ण शरीर हो, ऐसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार भगवान आत्मा अनादि का अनन्त अनादि काल का होने पर भी उसमें एक भी गुण और पर्यायों के जीर्ण-शीर्ण हुआ नहीं। आत्मा को बुढ़ापा लागू नहीं पड़ता। समझ में आया? अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु! जो चाहे जितना काल हो तो उसमें जीर्ण लागू हो या जीर्णता होकर इस शरीर में कांचली (झूर्रियाँ) आदि पड़ जाती है न इस चमड़ी में? इसी प्रकार द्रव्यस्वभाव में कहीं अपूर्णता या कहीं शिथिलता या कुम्हालाता होगा? ऐसा का ऐसा चिद्घन भगवान (रहा हुआ है)। यह उसकी स्तुति करने को मैं खड़ा हुआ हूँ, ऐसा धनंजय कवि कहते हैं। और ऐसे ऋषभदेव भगवान.....

ऋषभदेव का वास्तविक अर्थ वह तो भगवान के नाम से पाते हैं। बाकी आत्मा को ऋष्यति इति, गच्छति इति परमपदं इति ऋषभः। समझ में आया यह कुछ? यह भगवान ही आत्मा अपने परमपद को प्राप्त करता है, इसलिए इस आत्मा का नाम ही ऋषभ है। गजब भाई स्तुति इनकी! चैतन्य... बापू! परन्तु तेरी बात क्या करना? पूर्णानन्द प्रभु एक समय में उसके अन्दर पूरा रूप ध्रुव है। उसमें विभाव और स्वभाव की अनेक पर्यायें प्रगटें, तथापि उसकी पकड़ और परिग्रह ध्रुव में नहीं है। ऐसा भगवान आत्मा **दीर्घायुवाले होकर भी बुढ़ापा से रहित श्रेष्ठ प्राचीन पुरुष भगवान ऋषभनाथ....** श्रेष्ठ चैतन्य प्रभु भगवान पुराण पुरुष **हम सबको....** देखो! '**नः**' शब्द पड़ा है न? **हम सबको**

विनाश से बचावे। यह विकारी पर्याय से बचावे। चैतन्यप्रभु को प्रार्थना करते हैं कि अरे... नाथ! जाग और पूर्ण तेरा स्वरूप इसमें कुछ पूर्ण-अपूर्णता (नहीं है)। तेरे खजाने में कोई कमी नहीं है। हमें, हे आत्मा! इस विकार का नाश कर और विकार से हमें बचा। भगवान की स्तुति से ऐसा कहने में आता है कि हे प्रभु! हमें विकार से बचाओ।

भावार्थ—श्लोक में विरोधाभास अलंकार है। इस अलंकार में सुनते समय विरोध मालूम होता है, पर बाद में अर्थ का विचार करने से उसका परिहार हो जाता है। देखिए—जो अपने स्वरूप में स्थित होगा, वह सर्वव्यापक कैसे होगा? यह विरोध.... विरोध.... विरोध। **यह विरोध है; पर उसका परिहार यह है कि पुराण पुरुष, आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा अपने स्वरूप में ही स्थित हैं,....** भगवान भी अपने स्वरूप में स्थित है और यह आत्मा भी अपने असंख्य प्रदेश में ही अनादि स्थित है। **अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, तथापि उनका ज्ञान सब जगह के पदार्थों को जानता है;....** भगवान का ज्ञान सबको जानता है। देखो! यह विरोध हो गया। स्थित यहाँ, जाने सबको। जाने सबको, स्थित यहाँ। इसी प्रकार प्रभु! तेरा स्वभाव तो पूर्ण असंख्य प्रदेश में व्यापक है। परन्तु तो भी उसकी सामर्थ्य तीन काल, तीन लोक को एक समय में विकल्प बिना जानने की सामर्थ्य है। ऐसा चैतन्य प्रभु अनादि से सर्वज्ञ परमात्मस्वभाव अपना विराज रहा है। यह इसका विश्वास करके अनुभव करना, यह उसकी भक्ति है। **इसलिए ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत है।**

जो सम्पूर्ण व्यापारों को जाननेवाला है,.... जगत के चार गति के भव्य जीव और चौरासी के अवतार के सभी प्राणी और जड़ अनन्त, उनके द्रव्य, गुण और पर्याय का परिणमन सब भगवान के ज्ञान में आ जाता है। व्यापारों से जानता है, सब पदार्थों को। **व्यापारों को जाननेवाला है, वह परिग्रहरहित कैसे हो सकता है?** सब व्यापार को जाने और परिग्रह नहीं। गजब भाई!

यह विरोध है; इसका परिहार यह है कि आप सर्व पदार्थों के स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिवर्तनों को जानते हुए भी.... आपको स्वाभाविक और वैभाविक पर्याय का सम्बन्ध नहीं। वैसे ही कर्म का भी सम्बन्ध आपको नहीं। **इसी तरह दीर्घायु**

से सहित होकर भी बुढ़ापे से रहित हैं,.... लो! दीर्घायु हैं, तथापि आत्मा बुढ़ापा और वृद्धावस्था कभी नहीं आती। **यह विरोध है; इसका परिहार इस तरह है कि महापुरुषों के शरीर में....** महा उत्तम पुरुषों के शरीर में, महा उत्तम पुरुष ऐसे आत्मा में **वृद्धावस्था का विकार नहीं होता....** जीर्णता होती (नहीं)।

अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा वे कभी भी जीर्ण नहीं होते। देखो! यह भी अर्थ किया है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप में बहुत काल गया.... बहुत काल गया, इसलिए कुछ जीर्ण-शीर्ण कोई झूर्रियाँ-बुर्रियाँ पड़ती होगी गुण में? नहीं। **इस तरह इस श्लोक में विघ्न बाधाओं से अपनी रक्षा करने के लिए....** देखो! बात तो ऐसी है। पर्याय में विकार है और बाह्य में संयोग में प्रतिकूलता हो। इन दोनों से **रक्षा करने के लिए पुराण पुरुष से प्रार्थना की गयी है।** अनादि-अनन्त भगवान की प्रार्थना ऐसे परमात्मा तीर्थंकरदेव की प्रार्थना की है। समझ में आया? उनकी कथा में कुछ बात है अवश्य। अब सच्ची-खोटी कुछ (खबर नहीं)। भक्तामर है न भाई? भक्तामर का नहीं यह हरिभाई का पुस्तक? हरिभाई ने प्रकाशित किया है उसमें सब कथायें ली थीं।

वह स्वयं धनंजय ने एक नाममाला बनायी है, नाममाला। थोड़ी। और उस समय उज्जैन में भोज राजा थे न? क्या कहलाता है वह? राजा भोज, राजा भोज। उसे विद्वानों का बहुत शौक था। विद्वानों से मिलूँ। उसमें एक कालिदास जो कवि थे, उसे काली देवी प्रसन्न थी और बहुत बनाया हुआ। उसमें कोई गाँव का एक सेठ होगा। उसके छोटे लड़के ने धनंजय ने बनायी हुई नाममाला कण्ठस्थ की थी। लड़के ने। कण्ठस्थ की हुई और उस लड़के को लेकर राज में गया तो राजा से तो अनुकूल था न सबको? पधारो सेठ साहेब पधारो! ऐसा सम्मान दिया। लड़के को वह नाममाला कण्ठस्थ थी, वह बुलवायी। यह लड़का.... इतना क्या इसे आता है कुछ? कहे हाँ, एक नाममाला है, वह लड़के ने कण्ठस्थ की है। दूसरा तो अभ्यास नहीं। राजा कहे परन्तु यह नाममाला, इस नाम का ग्रन्थ मैंने अभी तक सुना नहीं। मैं तो सब ग्रन्थ का जाननेवाला हूँ। अभी चलते हैं इतने सब पण्डितों के। यह कौन है? साहेब! एक धनंजय नाम के आपकी नगरी में महाकवि समर्थ हैं। उसने एक नाममाला बनायी है। यह वह कालिदास को सहन हुआ

नहीं। यह बनिया क्या जाने फिर नाम को, विद्या को ? समझ में आया ?

ब्राह्मण उसके विद्या के पारंगत और वेद तथा वेद के जाननेवाले पारंगत हैं। बनियों को और विद्या कैसी ? यह तो साहेब! हमारी नाम मंजरी है। हमारी 'नाम मंजरी' है। हमारी बनायी हुई है। समझ में आया ? तब कहे, बुलाओ धनंजय को। बुलाया धनंजय को। कहे, क्या है यह ? साहेब! मैंने बालक के लिये नाममाला बनायी है। ये लोग सिर पर हड़ताल फिराने के लिये, मेरा नाम मिटाने के लिये उसका नाम, नाम मंजरी दिया है। खोज करो उस वस्तु की। खोज करने पर तो निकली की ओहोहो! ऐसे पुरुष मेरे गाँव में और सेठ तुम मेरे दर्शन करने भी न आओ। मेरे पास नहीं आओ। अरे हम कौन हैं, तुम्हें गाँव में उसकी खबर हमें नहीं पड़े। साहेब! हमारे क्या काम ? हमें तो हमारे धन्धे के साथ काम है। हमारे दूसरे के साथ (क्या काम हो) ? आज आपके दर्शन हुए, इसलिए आपको यह बात करता हूँ।

इन धनंजय ने एकाकार भक्ति में लड़के के बेहोश पड़े हुए को प्रजा.... इसी प्रकार भगवान आत्मा की पर्याय बेहोश हुई है। समझ में आया ? उसमें अन्तर से उल्लास आने पर, चैतन्यप्रभु भगवान की भक्ति में जुड़ने से उस बेहोश का नाश हो जाता है। उसमें स्तुति करते.... करते.... करते.... करते.... उन्हें इच्छा भी नहीं, वरदान माँगते नहीं, मुझे कुछ चाहिए नहीं। परन्तु भक्ति में सहज ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध हो गया। बालक का जहर अपने आप बिना माँगे, बिना इच्छा (उतर गया).... सेठी! उतर गया। उसी प्रकार आत्मा के अन्दर के ज्ञान और ध्यान के उल्लास से बिना याचना के कि मुझे इसका नाश हो या ठीक (हो), ऐसा भी है नहीं। समझ में आया ? यह मिथ्याभ्रान्ति और मोह के राग-द्वेष के भाव का सहज स्वभाव की धुन में उसका नाश होता है, ऐसा भगवान आत्मा विराजता है। भगवान की भक्ति में बाहर से भी नाश हुआ, ऐसा व्यवहार भी साथ में रहा है।

काव्य - २

परैरचिन्त्यं युगभारमेकः,
स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः,
किमप्रवेशे विशति प्रदीपः॥

जिसने पर-कल्पनातीत, युग-भार अकेले ही झेला।
जिसके सुगुण-गान मुनिजन भी, कर नहिं सके एक बेला॥
उसी वृषभ की विशद विरद यह, अल्पबुद्धि जन रचता है।
जहाँ न जाता भानु वहाँ भी, दीप उजेला करता है॥

अन्वयार्थ — (परैः) दूसरों के द्वारा (अचिन्त्यम्) चिन्तवन करने के अयोग्य (युगभारम्) कर्मयुग के भार को (एकः) अकेले ही (वहन्) धारण किये हुए तथा (योगिभिः अपि) मुनियों के द्वारा भी (स्तोतुम् अशक्यः) जिनकी स्तुति नहीं की जा सकती है - ऐसे (असौ वृषभः) वे भगवान् वृषभनाथ (अद्य) आज (मे स्तुत्यः) मेरे द्वारा स्तुति करने के योग्य हैं अर्थात् आज मैं उनकी स्तुति कर रहा हूँ, सो ठीक है। (भानोः) सूर्य का (अप्रवेश) प्रवेश नहीं होने पर (किम्) क्या (प्रदीपः) दीपक (न विशति) प्रवेश नहीं करता ? अर्थात् करता है।

भावार्थ — भगवन्! यहाँ जब भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का समय प्रारम्भ हुआ था, उस समय की सब व्यवस्था आप अकेले ही कर गये थे। इस तरह आपकी विलक्षण शक्ति को देखकर योगी भी कह उठे कि मैं आपकी स्तुति नहीं कर सकता, पर आज मैं आपकी स्तुति कर रहा हूँ। इसका कारण मेरा अभिमान नहीं है, पर मैं सोचता हूँ कि जिस गुफा में सूर्य का प्रवेश नहीं हो पाता, उस गुफा में भी दीपक प्रवेश कर लेता है। यह ठीक है कि दीपक, सूर्य की भाँति गुफा के सब पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता; उसी तरह मैं भी योगियों की तरह आपकी पूर्ण स्तुति नहीं कर सकूँगा, फिर भी मुझमें जितनी सामर्थ्य है, उससे बाज क्यों आऊँ ?

काव्य - २ पर प्रवचन

दूसरा श्लोक। (काव्य)। बोलो लो।

परैरचिन्त्यं युगभारमेकः,
स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः,
किमप्रवेशे विशति प्रदीपः॥

लो! '**अद्य मे असौ वृषभो आदि ब्रह्मा**' इनकी स्तुति करता हूँ। आदि ब्रह्मा है न टीका में? आद्यब्रह्मा। कैसे थे वे भगवान? **दूसरों के द्वारा चिन्तवन करने के अयोग्य हैं**। हे भगवान! दूसरों के द्वारा आप चिन्तवन में आ सको, ऐसे नहीं हो। भगवान आत्मा भी कल्पना में, चिन्तवन में आ सके ऐसा नहीं है। वचनातीत है, कल्पनातीत है, मनातीत है। अकेला स्वसंवेदन आनन्दकन्द से ज्ञात हो, ऐसा है। ऐसा भगवान आत्मा और स्वयं पर परमात्मा, दोनों **दूसरों के द्वारा चिन्तवन करने के अयोग्य हैं**। '**युगभारम्**' **कर्मयुग के भार को अकेले ही धारण किये हुए....** हैं। तब कर्मयुग था और कर्मभूमि जब हुई, उस सब भरतक्षेत्र का भार आपने निर्वाह किया है। अकेले कल्पवृक्ष आदि जब गये, तब हे प्रभु! आपने सबका निर्वाह किया। उसी प्रकार आत्मा में अकेला चिन्तवन, अकेला आनन्द और स्वरूप की एकाग्रता होने पर, सब भाव, शुद्ध का भार आत्मा हो सकता है। यह विकल्प और निमित्त के भार नहीं कि वे आत्मा की शान्ति का वहन कर सकें। सेठी!

कर्मयुग के भार को अकेले ही धारण किये हुए.... वह आता है न कल्पवृक्ष न? अन्दर में वह है। **कल्पवृक्ष आदि अभावेन प्राणी आजीविका....** प्राणी को आजीविका नहीं हुई। भगवान के पास पुकार करते गये—हे प्रभु! यह सब यह क्या हुआ? आजीविका हमारे साधन कल्पवृक्ष सूखते हैं। हमें जो चीज़ चाहिए, वह उसमें आती या मिलती नहीं। वे भगवान के पास गये तो जीविका (कर दी)। ऐसे विकल्प आये और उस प्रकार का पुण्य का योग और निमित्त हुए। समझ में आया? देखो! उसमें भी उल्टा

लगाते हैं कितने ही कि भगवान ने पहले जगत को यह बताया। कृषिकर्म की इत्यादि विद्या आदि। समझ में आया? भाई! इस बात में ऐसी बात है कि उन्हें इस प्रकार की पर्यायें बाहर में होने की हों, यहाँ उस प्रकार का विकल्प था, उस जाति का कथन निकल गया। स्वयं तो कल्पवृक्ष में और अन्तर आत्मा की धुन में और एकाग्रता में हैं। परन्तु जगत के ऐसे पुण्य के कारण ऐसा हुआ। इसी प्रकार पवित्रता में भी वह कल्पवृक्ष समान भगवान आत्मा, उसकी एकाग्रता की धुन करने से महा चैतन्य असाधारण कारण प्रभु, यह उसकी भक्ति करने से कल्पवृक्ष के बाहर के साधन टूटे, सामग्री टूटी, शरीर जीर्णादि हुआ और पुण्य कम हुए परन्तु पवित्रता स्वभाव के आश्रय से प्रगट होती है कि उसे किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती। समझ में आया? किसी की आवश्यकता नहीं, ऐसा भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द से भरचक भरपूर है।

यहाँ भगवान की व्यवहार से बात करते हैं। प्रभु! **'योगिभिः अपि' मुनियों के द्वारा भी जिनकी स्तुति नहीं की जा सकती है....** मुनि भी क्या करे? अन्दर समा गये। अन्दर एक ही उपाय। मुनि से भी आप की स्तुति (नहीं हुई)। तैतीस-तैतीस सागर तक स्वाध्याय के भाव किये। सर्वार्थसिद्धि के देव, परन्तु कुछ पार नहीं पड़ा। यह अन्दर समाने से पार (आता है), बाकी किसी प्रकार से पार पड़े, ऐसा नहीं है। ऐसे **मुनियों के द्वारा भी जिनकी स्तुति नहीं की जा सकती है - ऐसे वे भगवान् वृषभनाथ आज मेरे द्वारा स्तुति करने के योग्य हैं।** मुनियों द्वारा स्तुति होती नहीं, उनकी मेरे द्वारा स्तुति करनेयोग्य है। **अर्थात् आज मैं उनकी स्तुति कर रहा हूँ, सो ठीक है। सूर्य का प्रवेश नहीं होने पर....** जहाँ सूर्य न हो वहाँ क्या **दीपक प्रवेश नहीं करता?** दीपक से उजाला नहीं होता? सूर्य न हो तब तक दीपक से उजाला हो कैसे? हे भगवान! पूर्ण परमात्मा अन्तर में प्रगटरूप स्थित हो, वह तो बाहर आवे नहीं। परन्तु हमारी वर्तमान प्रगट पर्याय द्वारा, दीपक द्वारा हमारे चैतन्य की जाति की हम सम्हाल ले सकते हैं। समझ में आया? क्या **दीपक प्रवेश नहीं करता?**

हे भगवन्त! यहाँ जब भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का समय प्रारम्भ हुआ था, उस समय की सब व्यवस्था आप अकेले ही कर गये थे। देखो! व्यवस्था की जा सकती होगी या नहीं? सेठी! यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के व्यवहार के कथन का

महत्पना बताया है। **इस तरह आपकी विलक्षण शक्ति को देखकर योगी भी कह उठे कि मैं आपकी स्तुति नहीं कर सकता,....** ओहो! उनका व्यवहार, उनका निश्चय, उनका पुण्य, उनका शरीर परम औदारिक, उनकी वाणी मीठी-मधुर आदि किसी बात का मैं वर्णन कर सकूँ, ऐसी मुझमें ताकत नहीं है। इन्द्र भी हार गये, यह बाद में कहेंगे। समझ में आया? **आपकी स्तुति नहीं की जाती,....** हे भगवान ऋषभनाथ! **आज मेरे द्वारा स्तुति करने योग्य... सूर्य का प्रवेश नहीं हो पाता,....** दीपक का प्रवेश नहीं। ऐसे सर्व व्यवस्था जब आपने की, **इस तरह आपकी विलक्षण शक्ति को देखकर योगी भी कह उठे कि.... पर आज मैं आपकी स्तुति कर रहा हूँ।** मेरा जोर चैतन्यप्रभु में है और आपकी भक्ति में है। भले दूसरे न कर सके परन्तु मैं तो करने को तैयार हुआ हूँ। समझ में आया?

इसका कारण मेरा अभिमान नहीं है, पर मैं सोचता हूँ कि जिस गुफा में सूर्य का प्रवेश नहीं हो पाता,.... जिस गुफा में सूर्य का प्रवेश नहीं, **उस गुफा में भी दीपक प्रवेश कर लेता है। यह ठीक है कि दीपक, सूर्य की भाँति गुफा के सब पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता; उसी तरह मैं भी योगियों की तरह आपकी पूर्ण स्तुति नहीं कर सकूँगा, फिर भी मुझमें जितनी सामर्थ्य है, उससे बाज क्यों आऊँ?** बाज का अर्थ क्या है?

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : इससे नहीं चूकूँगा। जितना मेरी शक्ति में है, उससे मैं चुकूँगा नहीं। बराबर मेरे पुरुषार्थ द्वारा आत्मा को प्राप्त कर लूँगा। भगवान! आपकी भी भक्ति करूँगा और मेरा स्वभाव पूर्ण है, उसे भी मेरे प्रयत्न द्वारा मैं प्राप्त करूँगा। ऐसा मुझे हर्ष और विश्वास है। ऐसा मुझे विश्वास है और ऐसा मुझे हर्ष है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अध्यात्म में ऐसा है मूल तो। परमात्मस्वभाव आत्मा का चिन्तवन... नहीं। तथापि मैं अन्तर साधक द्वारा, स्वभाव द्वारा उसका अनुभव करने तैयार हुआ हूँ। भले पूरा सूर्य प्रभु पूर्णानन्द की प्राप्ति केवलज्ञान की या सूर्य प्रभु आत्मा बाहर न आवे। परन्तु मेरी ज्ञान की स्वसंवेदनशक्ति द्वारा—दीपक द्वारा आपको मैं पहुँच जाऊँगा और आपके पूर्ण स्वभाव को प्राप्त करके मैं भी मोक्ष जानेवाला हूँ।

काव्य ३

तत्याज शक्रः शकनाभिमानं,
नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम्।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं,
वातायनेनेव निरूपयामि॥

शक्र सरीखे शक्तिवान ने, तजा गर्व गुण गाने का।
किन्तु न मैं साहस छोड़ूँगा, विरदावली बनाने का।।
अपने अल्पज्ञान से ही मैं, बहुत विषय प्रकटाऊँगा।
इस छोटे वातायन से ही, सारा नगर दिखाऊँगा॥

अन्वयार्थ — (शक्रः) इन्द्र ने (शकनाभिमानम्) स्तुति कर सकने की शक्ति का अभिमान (तत्याज) छोड़ दिया था किन्तु (अहम्) मैं (स्तवनानुबन्धम्) स्तुति के उद्योग को (न त्यजामि) नहीं छोड़ रहा हूँ। मैं (वातायनेन इव) झरोखे की तरह (स्वल्पेन बोधेन) थोड़े से ज्ञान के द्वारा (ततः) उससे (अधिकार्थम्) अधिक अर्थ को (निरूपयामि) निरूपित कर रहा हूँ।

भावार्थ — जिस तरह छोटे से झरोखे में झाँककर उससे कई गुणी बड़ी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है; उसी तरह मैं भी अपने अल्पज्ञान से जानकर आपके गुणों का वर्णन कर रहा हूँ। मुझे अपनी इस अनोखी सूझ पर हर्ष और विश्वास दोनों हैं, इसलिए मैं इन्द्र की तरह अपनी शक्ति को नहीं छिपाता।

काव्य - ३ पर प्रवचन

तीसरा। (तीसरा काव्य)

तत्याज शक्रः शकनाभिमानं,
नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम्।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं,
वातायनेनेव निरूपयामि॥

इसका हिन्दी है इसमें, दूसरे ने किया हुआ। अपने उसमें भी है। स्तवनमाला है न! स्तवनमाला में यह दूसरे का किया हुआ है हिन्दी। एक स्तवनमाला है, उसमें यह दूसरे का किया हुआ है।

शक्र सरीखे शक्तिवान ने, तजा गर्व गुण गाने का।
किन्तु न मैं साहस छोड़ूँगा, विरदावली बनाने का।।
अपने अल्पज्ञान से ही मैं, बहुत विषय प्रकटाऊँगा।
इस छोटे वातायन से ही, सारा नगर दिखाऊँगा।।

देखो! यह हिन्दी है, तुम्हारे हिन्दीवालों को जरा (सरल पड़े)। '**शक्र**' अर्थात् देवेन्द्र। **इन्द्र ने स्तुति कर सकने की शक्ति का अभिमान छोड़ दिया था....** हे नाथ! क्या स्तुति करूँ? कहाँ आपके गुण! मेरी दृष्टि में पूर्ण तो आते नहीं। मैं क्या स्तुति कर सकता हूँ? साधक है न? सम्यग्दृष्टि है। कहीं पूर्ण गुण प्रगट हुए नहीं। ऐसे शक्र अर्थात् सामर्थ्यवाला आत्मा, पर्याय में समर्थ होने पर भी, उस पूर्ण को पहुँच नहीं सकता, इसलिए कहते हैं, मैं स्तुति करने का विकल्प छोड़ देता हूँ।

ऐसे **इन्द्र ने स्तुति कर सकने की शक्ति का अभिमान छोड़ दिया था किन्तु मैं स्तुति के उद्योग को नहीं छोड़ रहा हूँ।** स्तुति का उद्योग नहीं छोड़ूँगा। अन्तर आत्मा भी स्तुति करते.... करते.... करते.... अन्तर में स्थिर हो गये और तब वे परमात्मपद को प्राप्त हुए। मैं भी अब स्तुति करते हुए पीछे नहीं हटूँगा। समझ में आया? आत्मा का स्वभाव पूर्ण परमात्मा, परमब्रह्म अखण्डानन्द की स्तुति और भक्ति में एकाग्र हुआ मैं, अब वापस नहीं हटूँगा। पूर्ण केवलज्ञान और परमात्मपद को प्राप्त करके ही, मेरा पूर्ण पुरुषार्थ तब प्राप्त होगा। इसके बिना अब वापस हटूँगा नहीं। लो! यह गृहस्थाश्रम में सेठ स्वयं भगवान की भक्ति करते हुए, इतना पुरुषार्थ उछालते हैं।

महाकवि भक्तराज हैं। धनंजय इनका नाम, देखो न धनंजय! एक ओर धन्य उनका आत्मा और जिसकी जय हुई। समझ में आया? प्रभु! इन्द्र ने स्तुति करने का अभिमान छोड़ दिया। **मैं स्तुति के उद्योग को नहीं छोड़ रहा हूँ। मैं झरोखे की तरह....** झरोखा होता है न, छोटी आँख ऐसे झरोखा देखने का। **झरोखे की तरह थोड़े से ज्ञान**

के द्वारा उससे अधिक अर्थ को निरूपित कर रहा हूँ। देखो ! छोटे झरोखे में बैठकर इसने अर्थ पूरा नहीं लिया। पाठ में अन्तिम है, देखो ! .....एक छोटे छिद्र में से मैं अनेक हाथी देख सकूँगा। छिद्र तो ऐसा छोटा होता है, परन्तु उसमें से अनेक गज, विशाल गज—हाथी उससे मैं देख सकूँगा। उसी प्रकार हे भगवान! आपकी स्तुति करते.... करते.... करते मेरा ज्ञान तो अल्प है, अल्प बुद्धि है, परन्तु विशाल गज—हाथी जैसा आत्मा, उसके पूर्ण गुण की हूँ स्तुति करने को तैयार हुआ हूँ। अल्प ज्ञान द्वारा महा सर्वज्ञ की स्तुति मैं करूँगा। सर्वज्ञ द्वारा सर्वज्ञ की स्तुति कहाँ होती है ? मेरे अल्प ज्ञान द्वारा आपकी—परमात्मा की स्तुति करूँगा। विकल्प से-व्यवहार से बात है। निश्चय से अपने स्वभाव की स्तुति करूँगा। भले ज्ञान थोड़ा पाँच समिति, गुप्ति आदि थोड़ा हो। परन्तु केवलज्ञान का कन्द, अविनाभावी ऐसा चैतन्य, उसकी स्तुति और भक्ति करने को मैं तैयार हुआ हूँ। उसमें से पूरे आत्मा को देखूँगा। छोटे से छिद्र में गज दिखते हैं, उसी प्रकार अल्प ज्ञान में पूरा आत्मा दिखता है। समझ में आया ?

भक्त भजन करे न ? वह यह भजन। यह भजन है। अपने आता है न ३१वीं गाथा में ? शिष्य ने पूछा नहीं ? प्रभु! केवली की स्तुति किसे कहना ? भगवान की स्तुति तीर्थंकर की किसे कहना ? अरे! तीर्थंकर की स्तुति उसे कहते हैं कि तीर्थंकर अपना आत्मा, उसका अकेला ज्ञानघन, केवलज्ञान में एकाकार होकर आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करना, यह उसने भगवान की स्तुति की है। कहो, समझ में आया ? वह विकल्प से व्यवहार है, वह है, परन्तु निश्चय यह सर्वज्ञ.... पूछा प्रश्न तीर्थंकर की स्तुति का, केवली (की स्तुति) का। उत्तर दिया आत्मा का। भूल की होगी ? कुन्दकुन्दाचार्य ने भूल (की होगी) ? परन्तु पूछते हैं कि प्रभु! भगवान की स्तुति किसे कहना ? यह भगवान की स्तुति, यह भगवान आत्मा पूर्णानन्द निर्विकल्पोहं, उदासीनोहं। तीन काल -तीन लोक में सब जीव इस प्रकार से शुद्ध हैं, ऐसी अन्तर में दृष्टि का अनुभव होना (चाहिए)। यह उसे भगवान की स्तुति और केवली की स्तुति की कहलाती है। बाकी अकेले पुण्य बाँधे और शुभ हो और वह केवली की स्तुति है नहीं। व्यवहार की—पूछी भगवान की, वहाँ कही आत्मा की।

मुमुक्षु : स्वयं के मार्फत ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वय के मार्फत द्वारा स्वयं समझ में आता है। इसी प्रकार अपने मार्फत द्वारा ही यह भगवान के विकल्प से, व्यवहार से भक्ति होती है। वहाँ भगवान कहाँ अन्दर देते हैं और देता है कोई ? कहो, समझ में आया इसमें ?

भावार्थ :- जिस तरह छोटे से झरोखे में झाँककर उससे कई गुणी बड़ी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है;.... लो! छोटे झरोखे में झाँककर **कई गुणी बड़ी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है;....** अनन्त-अनन्त गुणे! ओहोहो! छोटी आँख इतनी देखो न बाहर की। पर्वत पर चढ़ा हो। बड़े पर्वत पर। २५-५० कोस का दिखता है। किससे ? इतना भाग है वह नहीं, अन्दर ज्ञान की पर्याय की महत्ता है। ज्ञान की पर्याय में क्षेत्र अपेक्षित नहीं है कि इतने क्षेत्र से (इतना बड़ा दिखाई दे)। वास्तव में तो यहाँ नजर भी नहीं पड़ती बाहर। यह तो यह सब.... खड्डा कहाँ है वहाँ ? आँख में छिद्र नहीं। समझ में आया ? आँख में किसी को ऐसा लगे कि यहाँ से ऐसे छिद्र है, उसमें से देखता है, ऐसा नहीं है। वह तो बन्धन औदारिक प्रकृति के बन्धन के कारण, एक ऐसा एकाकार दल हो गया है। परन्तु ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य ऐसी है, एक इतने उघाड़ में भी जितना उसे नजर में आवे, उतना देख सके और ज्ञान की पर्याय में सर्वज्ञ ऐसा आत्मा है, उसे भी वह जानकर अनुभव कर सकता है। ऐसी उसकी ज्ञानपर्याय में सामर्थ्य है। अल्प ज्ञान में सर्वज्ञ को अनुभव कर सकता है, ऐसी सामर्थ्य है। समझ में आया ? उस विकल्प में, शुभराग में, संयोग में वह सामर्थ्य नहीं है। उस ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य से परमात्मा अपनी भक्ति कर सकता है और पर की भी भक्ति का विकल्प आता है।

उसी तरह मैं भी अपने अल्पज्ञान से जानकर आपके गुणों का वर्णन कर रहा हूँ। मुझे अपनी इस अनोखी सूझ पर.... देखो! अनोख सूझ। दूसरी ही मेरी सूझ आयी इसमें। **इस अनोखी सूझ पर हर्ष और विश्वास दोनों हैं,....** हर्ष भी है और विश्वास भी है। **इसलिए मैं इन्द्र की तरह अपनी शक्ति को नहीं छिपाता।** देखो न! अन्तरात्मा, अन्दर में शक्ति में आता है और अभी धीरे... धीरे.... महाराज! मैं तो आत्मा में, पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-उद्यम हुआ, उसमें से वापस हटूँ, ऐसा नहीं है।

काव्य ४

त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो,
विद्वानशेषं निखिलैरवेद्यः।
वक्तुं कियान्कीदृश इत्यशक्यः,
स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु॥

तुम सब-दर्शी देव किन्तु, तुमको न देख सकता कोई।
तुम सबके ही ज्ञाता पर, तुमको न जान पाता कोई॥
'कितने हो' 'कैसे हो' यों कुछ, कहा न जाता हे भगवान्।
इससे निज अशक्ति बतलाना, यही तुम्हारा स्तवन महान॥

अन्वयार्थ — (त्वम्) आप (विश्वदृश्वा अपि) सबको देखनेवाले हैं किन्तु (सकलैः) सबके द्वारा (अदृश्यः) नहीं देखे जाते। आप (अशेषम् विद्वान्) सबको जानते हैं, पर (निखिलैः अवेद्यः) सबके द्वारा नहीं जाने जाते। आप (कियान् कीदृशः) कितने और कैसे हैं ? (इति) यह भी (वक्तुम् अशक्यः) नहीं कहा जा सकता, (ततः) इसलिए (तव स्तुतिः) आपकी स्तुति (अतिशक्तिकथा) मेरी असामर्थ्य की कहानी ही (अस्तु) हो।

भावार्थ — आप सबको देखते हैं, पर आपको देखने की किसी में शक्ति नहीं है। आप सबको जानते हैं, पर आपको जानने की किसी में शक्ति नहीं है। आप कैसे और कितने परिमाणवाले हैं ?—यह भी कहने की किसी में शक्ति नहीं है। इस तरह आपकी स्तुति मानो अपनी अशक्ति की चर्चा करना ही है।

इससे पहले के श्लोक में कवि ने कहा था कि इन्द्र ने भी आपकी स्तुति करने का अभिमान छोड़ दिया है, पर मैं नहीं छोड़ूँगा अर्थात् मुझमें स्तुति करने की शक्ति है, पर जब वे स्तुति करना प्रारम्भ करते हैं और प्रारम्भ में ही उन्हें कहना पड़ता है कि सब में आपको देखने की, जानने की अथवा कहने की शक्ति नहीं है; जिसका तात्पर्य अर्थ यह होता है कि मुझमें भी उसकी शक्ति नहीं है, तब उन्हें भी अन्त में स्वीकार करना पड़ता है कि इन्द्र ने जो शक्ति का अभिमान छोड़ा था, वह ठीक ही किया था और मेरे द्वारा की गयी यह स्तुति भी मेरी अशक्ति की कथा ही हो।

काव्य - ४ पर प्रवचन

चौथा श्लोक (काव्य)।

त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो,
विद्वानशेषं निखिलैरवैद्यः।
वक्तुं कियान्कीदृश इत्यशक्यः,
स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु॥

तुम सब-दर्शी देव किन्तु, तुमको न देख सकता कोई।
तुम सबके ही ज्ञाता पर, तुमको न जान पाता कोई॥
'कितने हो' 'कैसे हो' यों कुछ, कहा न जाता हे भगवान्।
इससे निज अशक्ति बतलाना, यही तुम्हारा स्तवन महान॥

भो! जिन! विश्वं है न? विश्वं पश्यति इति विश्वदृष्टा, विश्वदृष्टा। है न पाठ में यह? विश्वदृष्टा। हे भगवान! आप समस्त वस्तु के दृष्टा हो। किसी के कर्ता-हर्ता नहीं और देखनेवाले पूरे विश्व—समस्त वस्तु के देखनेवाले हो।

आप सबको देखनेवाले हैं, किन्तु सबके द्वारा नहीं देखे जाते। देखो विरोध। सबको आप जानते हो परन्तु सबके द्वारा आप ज्ञात होओ, ऐसे आप आत्मा हैं नहीं। ऐसे भगवान तुम भी नहीं। विरोध किया। विरोध दोनों का विरोध। उसी प्रकार हमारे आत्मा में हे नाथ! विरोध हो, वह हमारे स्वभाव द्वारा इस विरोध का नाश होता है। ऐसा करके यह विरोध (अलंकार) किया है। **आप सबको जानते हैं, पर सबके द्वारा नहीं जाने जाते।** पहले देखने की बात थी। दृष्टा की बात थी। यह ज्ञान की बात है। **आप सबको जानते हैं, पर सबके द्वारा नहीं जाने जाते।** ऐसा विरोध आपके अन्दर समाहित है। कहो, समझ में आया?

आप कितने और कैसे हैं? यह भी नहीं कहा जा सकता,.... कल्पना से यह कहीं पार पड़े ऐसा नहीं है। **कितने और कैसे हैं?** अन्दर केवलज्ञान। उस केवलज्ञान का विषय अनन्त अपरिमित ऐसा जो एक समय का स्वभाव, ऐसा अनन्त-अनन्त गुण का

(स्वभाव)। ऐसे केवलज्ञान की पर्याय का समूह ऐसा ज्ञानगुण। एक गुण का विषय कितना! ऐसे अनन्त गुण का कितना? हे प्रभु! **आप कितने और कैसे हैं? यह भी अशक्य है, नहीं कहा जा सकता, इसलिए आपकी स्तुति मेरी असामर्थ्य की कहानी ही हो।** पहले कहा था कि इन्द्र ने अभिमान छोड़ दिया परन्तु मैं तो तैयार हूँ, ऐसा कहा था। वापस गुलाँट खाते हैं। प्रभु! आपकी स्तुति कर नहीं सकता, यही आपकी स्तुति है। आपकी स्तुति क्या करूँ? मैं अशक्य हूँ, ऐसा कहने से ही आपके गुणों की स्तुति हो जाती है। ऐसे आत्मा में मैं क्या करूँ? मेरे पूर्णानन्द प्रभु को कैसे पहुँचूँ। मेरी शक्ति नहीं। ऐसा कहने से पूर्णानन्द का माहात्म्य इसमें आ जाता है। समझ में आया? लो, यह अशक्य हूँ स्तुति (करने में), ऐसा करके भी पूर्ण स्वभाव ऐसा है, ऐसी स्तुति की है।

भावार्थ — आप सबको देखते हैं, पर आपको देखने की किसी में शक्ति नहीं है। सबमें शक्ति नहीं। सबमें वह शक्ति है कहीं? मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि को भी पूर्ण स्वरूप तो एकदम प्रगट नहीं होता। **आप सबको जानते हैं, पर आपको जानने की किसी में शक्ति नहीं है। आप कैसे और कितने परिमाणवाले हैं?** ओहो! यह ज्ञानगुण, यह दर्शनगुण कैसा? कौन? क्या यह? बड़े-बड़े पण्डित गोता खाते हैं कि यह वह अनन्त वस्तु! अपरिमित वस्तु! काल से, क्षेत्र से, भाव से, संख्या से सबको एक समय का ज्ञान, पार पा जाता है। क्या है? सिर घूम जाता है कितनों का। समझ में आया? ऐसे-ऐसे एक समय की पर्यायवाले, ऐसी अनन्त पर्याय की माला का धारक एक गुण, उसका विषय क्या और उसका सामर्थ्य क्या? यह कल्पना के बाहर, यह कल्पना और विकल्प से पार पड़े, ऐसा नहीं है। अकेले विकल्प के तर्क से करे, वह वस्तु ऐसे समझ में आये, ऐसी नहीं है।

कितने परिमाणवाले हैं?—यह भी कहने की किसी में शक्ति नहीं है। अपरिमित वस्तु, भगवान का स्वभाव अपरिमित। भगवान तो.... मर्यादित चीज़ को जानते हैं और अमर्यादित को जानते हैं। उसकी मर्यादा जाननेवाले की क्या कहना? वह तो अपरिमित, अमर्यादित चीज़ आत्मा है, और भगवान का आत्मा भी अमर्यादित प्रगट हुआ है। **इस**

तरह आपकी स्तुति मानो अपनी अशक्ति की चर्चा करना ही है। आपकी शक्ति की स्तुति करते हुए **अपनी अशक्ति की चर्चा करना ही है।** मेरी शक्ति नहीं, ऐसा कहकर ही आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

इससे पहले के श्लोक में कवि ने कहा था कि इन्द्र ने भी आपकी स्तुति करने का अभिमान छोड़ दिया है, पर मैं नहीं छोडूँगा अर्थात् मुझमें स्तुति करने की शक्ति है, पर जब वे स्तुति करना प्रारम्भ करते हैं और प्रारम्भ में ही उन्हें कहना पड़ता है कि सब में आपको देखने की, जानने की अथवा कहने की शक्ति नहीं है;.... कहने की शक्ति नहीं। **जिसका तात्पर्य अर्थ यह होता है कि मुझमें भी उसकी शक्ति नहीं है,....** मुझमें भी वह शक्ति नहीं। पर्याय में कहाँ है? द्रव्य में जो पूरा तत्त्व पड़ा है, ऐसी पर्याय में शक्ति तो है नहीं।

तब उन्हें भी अन्त में स्वीकार करना पड़ता है कि इन्द्र ने जो शक्ति का अभिमान छोड़ा था, वह ठीक ही किया था.... वह ठीक ही किया था अर्थात् विकल्प द्वारा इतना माहात्म्य करने गया परन्तु उस विकल्प से माहात्म्य कहीं पार पड़ता नहीं। विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प हो, तब उसका माहात्म्य ख्याल में आता है। **और मेरे द्वारा की गयी यह स्तुति भी मेरी अशक्ति की कथा ही हो। मेरी अशक्ति की कथा....** और आपकी अपरिमित शक्ति की कथा। **मेरी अशक्ति की कथा....** और आपके अनन्त-अनन्त गुण। देखो! यह परमात्मा धर्म का मूल सर्वज्ञ। उसका पूरा विवाद अभी उठा है।

केवलज्ञान ऐसी पर्याय का पिण्ड प्रभु। ऐसे अन्दर के द्रव्य का माहात्म्य आये बिना वह केवली ने क्या देखा और केवली ने क्या जाना? वह उसके समाधान में अन्दर बैठे नहीं। समझ में आया? कोई कहता नहीं था? अमुक विषय हमें बैठता नहीं। कौन कहता था? यह क्या है? कहता था न कोई सवेरे कोई? वह प्रश्न किया उसमें। नेमीचन्द मुखत्यार का नहीं था?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, चर्चा वह।

मुमुक्षु : ऊर्ध्वगमन स्वभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर भी एक समय में इतना कैसे चले ? हमें बैठता नहीं। आहाहा! सवेरे बात हुई थी न, भाई ? आज या कल ? रात्रि में बात हुई थी, रात्रि में।

अरे! उसके स्वभाव की शक्ति। ऊर्ध्वगमन गति का बहुत ऊँचा जाना, वह उसका महात्म्य है ? समझ में आया ? गति में बहुत आगे जाये, उसका माहात्म्य है ? एक परमाणु भी एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड में नीचे से ऊपर चला जाता है और एक जीव भी तेजस और कार्मणशरीर लेकर अपनी गति से स्वयं चला जाता है और शरीर की गति से शरीर चला जाता है। वह चौदह ब्रह्माण्ड में एक समय में जाता है, वह कहीं उसका माहात्म्य नहीं। वह कहीं चीज़ का स्वरूप और समर्थता नहीं। भगवान एक समय में, ऐसे तीन काल तीन लोक जैसे हैं, वैसे होने से, हुआ और होगा सब एक समय में समा जाता है। ऐसा भगवान आत्मा और ऐसे परमात्मा यह उसका माहात्म्य, अन्तर्दृष्टि में आये बिना उसकी सच्ची भक्ति नहीं हो सकती। अकेले भगवान के पास पूजा करे और यह करे और पूजा प्रतिदिन करे, हमेशा दर्शन करे। किसके हमेशा दर्शन ? हमेशा दर्शन आत्मा के किये ? सेठी! भगवान के दर्शन कर आये। परन्तु कहाँ दर्शन ? वह तो व्यवहार है, निमित्त है, शुभभाव है, वह आता है। परन्तु अन्तर दर्शन के माहात्म्य के स्वभाव का अन्तर में बैठे बिना, उस अन्तर दर्शन बिना पर का दर्शन नहीं हो सकता।

एक व्यक्ति ने पूछा था, दर्शनप्रतिमा अर्थात् क्या तुम्हारी ? दर्शन प्रतिमा अर्थात् क्या ? कहे, यह भगवान के दर्शन प्रतिदिन दर्शन करना, यह दर्शनप्रतिमा। हजारीमलजी ! लो, ऐसे भी पड़े हैं अन्दर। भगवान के हमेशा दर्शन करना, वह दर्शनप्रतिमा। वह कहीं बात को समझता है ? अरे! (निज) भगवान के हमेशा दर्शन करना, वह दर्शनप्रतिमा। चिदानन्द प्रभु अखण्ड आनन्द जिसके विश्वास और हर्ष से बैठा। विश्वास और हर्ष से, हों, साथ में! आत्मा पूर्ण स्वरूप, यह निर्विकल्प है, ऐसी दृष्टि और हर्ष में यह विश्वास बैठा, उसने भगवान के हमेशा दर्शन किये। धर्मचन्दजी! वह व्यवहार, व्यवहार करके वह परमार्थ जो पूरा तत्त्व था, वह तो मानो लोप और गुम हो गया, रह गया। बाहर में

थोथा अकेली बात। शुभभाव और यह क्रिया और यह क्रिया। परन्तु वास्तविक जो तत्त्व है, वह तो गया पाताल में। यह हो गया ऊपर उफान में। फुव्वारा फूटे, वैसे यह बाहर की क्रिया हो गये इसके उफान। उभरा समझते हो? उफान-उफान-उफान। बाहर में उफान यह हो गया अकेला। पूरा चैतन्य प्रभु बड़ा, जिसके माहात्म्य की दृष्टि और महिमा हर्ष और आनन्द से जिसक विश्वास आवे, ऐसे तत्त्व रह गया दृष्टि में से और बाहर के ऊपर के माहात्म्य में सब समाहित हो गया।

यहाँ कहते हैं कि हे नाथ! मेरी अशक्ति, ऐसा वर्णन करते हुए आपकी शक्ति की अपरिमितता वर्णन में आ जाती है। क्या कहूँ? प्रभु! तेरी पूर्ण केवलपर्याय और पूर्ण आनन्द उसका क्या माहात्म्य करूँ? वह माहात्म्य क्या करूँ? नहीं कर सकता हूँ, इसमें तेरा माहात्म्य आ जाता है। समझ में आया? चार हुई।

काव्य ५

व्यापीडितं बालमिवात्मदोषै-
रुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम्।
हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः,
सर्वस्यजन्तोरसि बालवैद्यः॥

बालक सम अपने दोषों से, जो जन पीड़ित रहते हैं।
उन सबको हे नाथ! आप, भवताप रहित नित करते हैं॥
यों अपने हित और अहित का, जो न ध्यान धरनेवाले।
उन सबको तुम बालवैद्य हो, स्वास्थ्य दान करनेवाले॥

अन्वयार्थ — (त्वम्) आपने (बालम् इव) बालक की तरह (आत्मदोषैः) अपने द्वारा किये गये अपराधों से (व्यापीडितम्) अत्यन्त पीड़ित (लोकम्) संसारी मनुष्यों को (उल्लाघताम्) निरोगता (अवापिपः) प्राप्त करायी है। निश्चय से आप (हिताहितान्वेषण-मान्द्यभाजः) भले-बुरे के विचार करने में मूर्खता (मन्दता) को प्राप्त हुए (सर्वस्व जन्तोः) सब प्राणियों के (बालवैद्यः) बालवैद्य हैं।

भावार्थ — जिस तरह बालकों की चिकित्सा करनेवाला वैद्य अपनी भूल से पैदा किये हुए वात, पित्त, कफ आदि दोषों से पीड़ित बालकों को अच्छे-बुरे का ज्ञान कराकर, उन्हें निरोग बना देता है और अपने 'बालवैद्य' नाम को सार्थक बना लेता है; उसी तरह आप भी हित और अहित के निर्णय करने में असमर्थ बाल अर्थात् अज्ञानी जीवों को हित-अहित का बोध कराकर, संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वस्थ बना देते हैं। इस तरह आपका भी 'बालवैद्य' अर्थात् 'अज्ञानियों के वैद्य' यह नाम सार्थक सिद्ध होता है॥ ५॥

काव्य - ५ पर प्रवचन

पाँचवाँ।

व्यापीडितं बालमिवात्मदोषै-
रुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम्।
हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः,
सर्वस्यजन्तोरसि बालवैद्यः॥

आहाहा! हे नाथ! आप बाल के वैद्य हो।

बालक सम अपने दोषों से, जो जन पीड़ित रहते हैं।
उन सबको हे नाथ! आप, भवताप रहित नित करते हैं॥
यों अपने हित और अहित का, जो न ध्यान धरनेवाले।
उन सबको तुम बालवैद्य हो, स्वास्थ्य दान करनेवाले॥

देखो! यह स्वास्थ्य आया। देखो! उस लड़के का स्वास्थ्य होने की तैयारी है। निश्चय और व्यवहार दोनों ऐसे जमते जाते हैं। ऐसे स्वास्थ्य अन्दर में बढ़ता जाता है और उसको बाहर में स्वास्थ्य बढ़ता जाता है। सहज ही। जहर उतरकर, बेहोश था वह एकदम जागृत हो गया। इसी प्रकार अनादि का मिथ्यात्वरूपी सर्प डसा है न? डंक मारा है मिथ्यात्व के जहर ने। यह बेहोशी चैतन्य भगवान की स्तुति करते-करते बेहोशी समाप्त हो जाये। जागती ज्योत चैतन्य है यह। ओहो! अकेला ज्ञान का पुंज और ज्ञान का

गंज है। ऐसी बेहोशी अनादि की (चली आयी है)। वह भगवान की स्तुति से जैसे बालक की स्तुति गयी। प्रजा है न वह? उसी प्रकार आत्मा की प्रजा मिथ्यात्व। मिथ्या.... प्रजा थी, सम्यग्दर्शन की पर्याय का उसने नाश किया था। समझ में आया? प्रवीणभाई!

भगवान की स्तुति से बालक। बालक.... ऐसे आप तो सर्व अज्ञानी के वैद्य हो। बाल-अव्रतरूप से भी एक बाल कहलाता है, अज्ञानरूप से भी बाल कहलाता है, मिथ्यादृष्टि को भी बाल कहा जाता है और अव्रत की अपेक्षा से अस्थिरतावाले को, चारित्र की अपेक्षा से भी बाल कहा जाता है। आप सबके वैद्य हैं। समझ में आया? इस मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व टालनेवाले, इस अव्रती के अव्रत और अस्थिरता के (दोष) टालनेवाले प्रभु! आप बालवैद्य हो। समझ में आया?

हे भ्रमन.... संस्कृत में है न शब्द? अन्दर में भी है देखो! ....बाल की चिकित्सा करनेवाले प्रभु आप हो, हों! इन बाल जीवों की चिकित्सा। उसे क्या है? कौन सा दोष है? कैसे लगा और कितना क्या हुआ? उसकी चिकित्सा करनेवाले, प्रभु! आप हो। इसी प्रकार आत्मा को कहते हैं कि हे आत्मा! यह राग और द्वेषादि की चिकित्सा, उसे जाननेवाले प्रभु! आप हो। और उसकी चिकित्सा करके उसे टालनेवाले, वह भी आप हो। समझ में आया?

आपने बालक की तरह.... अन्वयार्थ है। **अपने द्वारा किये गये अपराधों से अत्यन्त पीड़ित....** जीवों। अत्यन्त पीड़ित जीवों। **संसारी मनुष्यों को निरोगता....** '**रुल्लाघतां**' अर्थात् निरोगता। **प्राप्त करायी है।** प्रभु! आपने निरोगता प्राप्त करायी है।

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्‌गुरु वैद्य सुजाण,
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।

प्रभु यह, प्रभु यह बाल के वैद्य हैं। प्रभु! आप अज्ञान को नाश करनेवाले और अस्थिरता के भी प्रभु! यह आप ही नाश करनेवाले हैं। दूसरा जगत में कोई नाश करने की ताकत नहीं रखता। निमित्त से भगवान है और शुद्ध उपादान से आत्मा है। अज्ञान का नाश करनेवाला भी आत्मा और अस्थिरता तथा अव्रत का नाश करनेवाला भी प्रभु तू

आत्मा ही है। यह अस्थिरता परन्तु मेरा इतना कलंकपना नहीं। है न उदयभाव? है न उदयभाव? उतना असिद्धभाव, उसका भी नाश करनेवाले हे सिद्ध भगवान आत्मा! तू ही उसका नाश कर सकता है।

संसारी मनुष्यों को निरोगता प्राप्त करायी है। निश्चय से आप भले-बुरे के विचार करने में मूर्खता को प्राप्त हुए सब प्राणियों के बालवैद्य हैं। क्या कहा? मोक्ष और मोक्ष का कारण। हितम् शब्द पड़ा है न भाई अन्दर? यह मोक्ष हित और मोक्ष का कारण, वह हित है। उसके विचार वह **भले-बुरे के विचार करने में मूर्खता को प्राप्त हुए....** अज्ञानी, उसके जाननेवाले प्रभु तुम और उसके टालनेवाले भी तुम हो। है न? **'हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः' विचार करने में मूर्खता को प्राप्त हुए सब प्राणियों के बालवैद्य हैं।** मोक्ष और मोक्ष का कारण, वह हित। संसार और संसार का कारण, वह अहित। समझ में आया? यह स्वर्ग का कारण जो है, वह भी अहित।

मुमुक्षु : कथंचित्....

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित्-फथंचित् इसमें है नहीं। देखो, इसमें लिखा है, देखो। संस्कृत टीका में पड़ा है। है? इसीलिए तो यह पुस्तक ली है जरा, उस टीका में कोई-कोई शब्द लिये जाते हैं। टीका कोई चन्द्रकीर्ति ने लिखी है। है न इसमें? कोई चन्द्रकीर्ति है कोई टीकाकार। भट्टारक हो या कोई भी हो। चन्द्रकीर्ति संस्कृत टीकाकार।

हे भगवन्त! आप मोक्ष, जो परम हित और उसका मार्ग भी परमहित। उसे नहीं प्राप्त ऐसे मूर्ख अज्ञानी, उसके ज्ञान को नहीं प्राप्त और संसार अहित तथा संसार के कारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अहित को नहीं जाननेवाले ऐसे **मूर्खता को प्राप्त हुए सब प्राणियों के हे नाथ! आप बालवैद्य हैं।** कितने ही नहीं होते? बालवैद्य होते हैं अभी। देखे हैं? छोटे-छोटे लड़कों के वैद्य, यही करे, दूसरा कोई कर सके नहीं। बालवैद्य।

मुमुक्षु : मुम्बई में खास....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, खास उसके डॉक्टर हों। यह होता है बाल में क्या कहलाता है वह? लकवा। बाल लकवा होता है, यह होता है, उसके जाननेवाले वे बालवैद्य के बराबर वे ही होते हैं। उसी प्रकार भगवान, इस बालवैद्य के जाननेवाले आप हैं, हों!

आप बालवैद्य हैं। इस अज्ञानी के वैद्य आप हो। अज्ञानी के वैद्य। ऐसे कन्धा पकड़कर उसके कितने पल्स हैं और क्या है और कितना है, यह सब हैं, उसके जाननेवाले तुम हो। उसी प्रकार संसार का अहित प्रकार कैसा है उसके पास ? उसके जाननेवाले तुम, प्रभु ! टालनेवाले भी तुम। दूसरे इस जगत में बालवैद्य आप जैसे कोई दुनिया में है नहीं। समझ में आया ?

जिस तरह बालकों की चिकित्सा करनेवाला वैद्य अपनी भूल से पैदा किये हुए.... भूल से। यह तो बात समझावे तो व्यवहार से समझावे न ? **वात, पित्त, कफ आदि दोषों से पीड़ित....** यह बालक अपने वात, पित्त, और कफ से पीड़ित **बालकों को अच्छे-बुरे का ज्ञान कराकर,....** उसका सच्चा और खोटा। देख यह तूने खाया था, देख यह तू ऐसा था। तूने यह पिया था। यह बहुत आम खाये, इसलिए यह विस्फोटक हुआ था। होता है न ? बहुत आम खाये न तो चमड़ी सफेद हो जाये। बहुत आम खाये न तो यह चमड़ी सफेद हो जाये फटकर। उसे वह बताता है कि इस लड़के को बहुत आम खिलाये लगते हैं। खट्टे।

ऐसे **पीड़ित बालकों को अच्छे-बुरे का ज्ञान कराकर, उन्हें निरोग बना देता है और अपने 'बालवैद्य' नाम को सार्थक बना लेता है;....** वह वैद्य भी बालवैद्य सार्थक है कि यह बालवैद्य है। बराबर है। **उसी तरह आप भी हित और अहित के निर्णय करने में असमर्थ....** अज्ञानी को हित का ज्ञान नहीं और अहित का ज्ञान नहीं। हे भगवान! हित किसे कहना और अहित किसे कहना ? इस पुण्य को हित माने और संवर-निर्जरा में दुःखी होना माने। हम तो दुःखी हैं दुःखी। हित के कारण को अहित माने और अहित के कारण को हित माने।

अहित के निर्णय करने में असमर्थ बाल अर्थात् अज्ञानी जीवों को हित-अहित का बोध कराकर, संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वस्थ बना देते हैं। स्व-स्थ। शरीर में निरोगता ऐसी आपकी भक्ति में पुण्य होकर शरीर में निरोगता भी हो जाये और उसमें स्व-स्थ। जो पुण्य और पाप के विकल्प में अस्वस्थता थी, अस्वस्थ था, पुण्य-पाप में अटकना, वह अस्वस्थ था। हे भगवान! वह आपके ध्यान और ज्ञान द्वारा आत्मा स्वस्थ,

अपने स्वरूप में—स्व में स्थ हो सके, ऐसी ताकत प्रभु आत्मा तुम्हारे में है। भगवान में ऐसी ताकत है कि स्वस्थ करा दे, ऐसी ताकत है। लो! निमित्तरूप से ऐसा व्यवहार से कहते हैं। परमार्थ से भगवान आत्मा ही स्वस्थ होने की ताकत धराता है।

इस तरह आपका भी 'बालवैद्य' अर्थात् 'अज्ञानियों के वैद्य' यह नाम सार्थक सिद्ध होता है। आप भी एक अज्ञानी के वैद्य हो। लोग अज्ञान, मूर्खता अनादि से सेवन कर रहे हैं, उस मूर्ख के आप वैद्य हो। वह आपके भान द्वारा मूर्खता टलती है और आपने कहा, उससे मूर्खाई किसे कहना! देखो न! कितनी मूर्खता? परद्रव्य में क्या, परद्रव्य मुझे मदद करे, परद्रव्य मुझे नुकसान करे। मूर्खता का पार है? स्वयं अपने को नुकसान करे, उसके बदले परद्रव्य मुझे नुकसान करे, मैं परद्रव्य को सहायता करके सुधार दूँ। ऐसी जो मूर्खता, ऐसे बाल के आप प्रभु वैद्य हैं, हों! वह आप समझाओ तो समझे। नहीं तो समझे, ऐसा नहीं।

इसी प्रकार अन्तर के ज्ञानस्वरूप में प्रभु आप आत्मा चिदानन्द सामान्य चैतन्यज्योति, इस अज्ञान का जाननेवाला और उसके ऊपर जरा.... आता है न विष वृक्ष का? नियमसार में नहीं आता? परमपारिणामिक को भी कहते हैं। विषवृक्ष के वृक्ष को कुल्हाड़े समान हैं पारिणामिकभाव। नियमसार में आता है। उसमें भी आया नहीं अपने? विषवृक्ष नहीं आया यह? १४८ प्रकृति विष के वृक्ष। १४८ कर्मप्रकृति विषवृक्ष है। भगवान अमृतवृक्ष है। परन्तु उस विषवृक्ष को नाश करने में हे भगवान! आप ही समर्थ हो। ऐसा कहकर अपने आत्मा के गुण और भक्ति की है, विकल्प से भगवान की भी भक्ति की है। पाँच गाथायें (काव्य) हुई।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण कृष्ण १४, मंगलवार, दिनांक : २८-८-१९६२
काव्य - ६ से ९, प्रवचन नं.-०२

काव्य ६

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वा-
नद्य श्‍व इत्यच्युत! दर्शिताशः।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः,
क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय॥

देने-लेने का काम कुछ, आज कल परसों करके।
दिन व्यतीत करता अशक्त रवि, व्यर्थ दिलासा दे करके॥
पर हे अच्युत जिनपति! तुम यों, पल भर भी नहीं खोते हो।
शरणागत नत भक्तजनों को, त्वरित इष्ट फल देते हो॥

अन्वयार्थ — (अच्युत) हे उदारता आदि गुणों से सहित जिनेन्द्रदेव! (विवस्वान्) सूर्य तो (न दाता न हर्ता) न कुछ देता है, और न कुछ अपहरण करता है, सिर्फ (अद्य श्‍वः) आज... कल... (इति) इस तरह करके (दर्शिताशः) आशा [दूसरे पक्ष में 'दिशा'] दिखाता हुआ (अशक्तः सन्) असमर्थ होकर (एवम्) ऐसे ही — बिना लिये-दिये ही (सव्याजम्) कपटसहित (दिवसम्) दिन को (गमयति) बिता देता है किन्तु हे प्रभु! आप (नताय) नम्र मनुष्य के लिए (क्षणेन) क्षणभर में (अभिमतम्) इच्छित वस्तु (दत्से) दे देते हैं।

भावार्थ — लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़कर सिर झुकाकर 'नमो नारायण' कहते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं और उससे इच्छित वरदान माँगते हैं, पर वह 'आज दूँगा, कल दूँगा' इस तरह आशा दिखाता हुआ दिन बिता देता है; किसी को कुछ देता-लेता नहीं है क्योंकि वह असमर्थ जो ठहरा, पर आप नम्र मनुष्य को उसकी इच्छित वस्तु क्षणभर में दे देते हैं; इस तरह आप सूर्य से भी बढ़कर हैं।

काव्य - 6 पर प्रवचन

यह 'विषापहार स्तोत्र' ऋषभदेव भगवान की स्तुति है। भगवान की स्तुति में मन्दिर में थे। उनके समक्ष यह स्तुति कही गयी है। धनंजय महाकवि के पुत्र सर्प के कारण बेहोश हुआ। स्वयं अपने ध्यान की धारा में भक्ति, वह आत्मशक्ति की भक्ति करते थे। बाहर से भगवान की भक्ति चलती थी। वास्तव में तो व्यवहारभक्ति के पीछे निश्चय भक्ति परिणमनरूप हो, उसे भगवान की व्यवहारभक्ति कहा जाता है। समझ में आया? शक्ति की भक्ति। सवेरे शक्ति चलती है न? ऐसा आत्मद्रव्य, उसकी दैवी शक्तियाँ, उनकी भक्ति का श्रद्धा-ज्ञान का परिणमन चले, उसे व्यवहारभक्ति में विकल्प वीतराग के बहुमान का उठे, उसमें शुद्धि भी बढ़े और पुण्य भी लोकोत्तर अलौकिक पुण्य बँधे, ऐसी भक्ति सम्यग्दृष्टि को होती है। समझ में आया? ऐसी भक्ति सम्यग्दृष्टि करता है।

यहाँ पाँच गाथा तक बात आ गयी। हे प्रभु! आप तो मूर्खों के वैद्य हैं। ऐसा कहा न बाल-बाल। बाल कहा। प्रभु! आप तो बाल जीवों के वैद्य हैं न? आपने तो उनकी चिकित्सा बराबर जानी है और उसका उपाय भी आपने बराबर बताया है। वह सर्वज्ञ-आपके अतिरिक्त दूसरा बाल की चिकित्सा देखकर उसका उपाय कहे, ऐसा दूसरा देव हमें दिखाई नहीं देता। समझ में आया? ऐसा करके स्वयं धनंजय, भगवान की स्तुति में रेलमछेल-तल्लीन हो जाते हैं।

देखो! छठी गाथा।

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वा-
नद्य श्व इत्यच्युत! दर्शिताशः।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः,
क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय॥

इसका हिन्दी।

देने-लेने का काम कुछ, आज कल परसों करके।
दिन व्यतीत करता अशक्त रवि, व्यर्थ दिलासा दे करके॥

पर हे अच्युत जिनपति! तुम यों, पल भर भी नहीं खोते हो।
शरणागत नत भक्तजनों को, त्वरित इष्ट फल देते हो॥

क्या कहते हैं? देखो! यह गाथा तो अपने आ गयी है प्रवचनसार में ८०वीं। जिसने अरिहन्त के द्रव्य, गुण और पर्याय जाने हैं, लक्ष्य में लिये हैं, अन्तर में उसे रुचिगत हुए। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदशा एक समय में.... कहते हैं न समन्तभद्राचार्य? हे प्रभु! इस जगत में एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में एक समय और तीन भाग द्रव्य के। उत्पाद-व्यय और ध्रुव। एक समय के तीन सत्—तीन सत्। समय एक, तीन सत्। प्रभु! आपने देखे। हमने निर्णय किया कि आप ही सर्वज्ञ हो। आपके अतिरिक्त कोई सर्वज्ञ नहीं है। ऐसा जिसने सर्वज्ञपद का बराबर पर्याय सर्वज्ञ की ऐसी होती है, मोक्षतत्त्व ऐसा होता है, अरिहन्त और सिद्ध की पर्याय परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन-आनन्द से भरपूर (अवस्था ऐसी होती है), ऐसी जिसने द्रव्य, गुण और पर्याय से श्रद्धा की है, विश्वास किया है, वह आत्मा के अन्दर मिलान कर उसे सम्यग्दर्शनरूप से परिणमाता है। समझ में आया? केवलज्ञान की श्रद्धा में ही बड़ा विवाद। विवाद अनन्त काल से। ओहो! पूर्ण प्रभु! आपकी मैंने भक्ति अनन्त काल में की (नहीं)। जिनपति रूप से देव अनन्त काल में स्वीकार नहीं किया। स्वीकार किया कब कहलाये? सर्वज्ञ परमात्मा की जो पर्याय एक द्रव्य की परिपूर्ण, तीन लोक-तीन काल को हस्तामलक की भाँति जानते हैं। ऐसे ज्ञान की पर्याय जिस गुण और द्रव्य में से आयी, परिपूर्ण हुई, उसके भानसहित भगवान की भक्ति, उसे कहते हैं, हे नाथ! हमने जिनपति रूप से आपको धारण नहीं किया। हम आपके दास अनन्त काल में नहीं हुए। सर्वज्ञपद की पर्याय, उसके दास हुए नहीं। प्रभु! अब हम दास होना चाहते हैं। सेठी!

तो कहते हैं, **'अच्युत' हे उदारता आदि गुणों से सहित....** देखो! यह सर्वज्ञ भगवान की स्तुति और सर्वज्ञ भगवान ऐसा आत्मा। निश्चयस्तुति अन्दर के परिणमन की; व्यवहारस्तुति भगवान के सन्मुख के विकल्प की। एक समय में दोनों धारा बहती है। उसे वास्तविक रूप से व्यवहारभक्ति कहा जाता है। **हे उदारता आदि गुणों से सहित.... 'अच्युत'** आपके गुण च्युत नहीं होते। ऐसे सहित **जिनेन्द्रदेव! सूर्य तो.... 'न**

दाता न हर्ता' देखो! क्या लिया है? यह सूर्य प्रकाश का पिण्ड तो है, सूर्य प्रकाश का पिण्ड तो है, परन्तु **न कुछ देता है, और न कुछ अपहरण करता है,....** किसी को कुछ देता नहीं, किसी का कुछ हरता नहीं।

सिर्फ आज... कल... इस तरह करके आशा दिखाता हुआ.... अथवा सूर्य का प्रकाश तो आशा और दिशा दिखलाता है। देता (या) लेता (नहीं)। दिशा दिखलाये कि देख यह दिशा पूर्व की, यह दिशा पश्चिम की, यह दिशा.... समझ में आया? हे प्रभु! **आज... कल... इस तरह करके आशा दिखाता हुआ असमर्थ होकर....** यह सूर्यप्रकाश आत्मा के प्रकाश को देने में समर्थ नहीं है। इस चैतन्यप्रकाश की प्राप्ति में वह समर्थ नहीं है। दिशा दिखलाकर सायंकाल अस्त हो जाता है। दिशाओं को दिखलाकर प्रकाश का पुंज शाम को अस्त हो जाता है।

ऐसे ही—बिना लिये-दिये ही कपटसहित.... अथवा इस बहाने **दिन को बिता देता है....** पूरा दिन चला जाता है। **किन्तु हे प्रभु!** हे सर्वज्ञ प्रभु! त्रिलोकनाथ वीतराग! **आप नम्र मनुष्य के लिए....** विनयवान के लिये। आपका जिसने विनय किया, भक्ति की, पूजा की, बहुमान किया, सत्कार किया। यह सर्वज्ञपद ऐसा है, ऐसा जिसने बहुमानरूप से, विनयरूप से, नम्रतारूप से **नम्र मनुष्य के लिए क्षणभर में इच्छित वस्तु दे देते हैं।** क्षणभर में केवलज्ञान की प्राप्ति कराता है। सेठी! भगवान देते होंगे न?

सूर्य का प्रकाश कहाँ प्रभु! और तेरा चैतन्यप्रकाश कहाँ! तेरे लक्ष्य से जिसे आत्मा का भान हुआ, तेरा स्वरूप ऐसा परिपूर्ण है, ऐसा ही मैं, ऐसा जिसे चैतन्य का भान हुआ, वह क्षणमात्र में आत्मा की दशा को प्राप्त कराता है। आत्मा की दशा की दिशा को प्राप्त कराता है। सूर्य तो बाहर की दिशा को दिखलाकर शाम को चला जाता है। परन्तु तुम तो हे भगवान! अपनी निर्मलदशा प्रगटाकर, बतलाकर यह वस्तु चैतन्यप्रभु, उसमें तू जा, तुझे उसमें से चाहिए वह सब मिल जायेगा। ऐसा भगवान कहनेवाले हैं। और वे भगवान दाता हैं। और वे हर्ता हैं। विकार और अल्पज्ञ का नाश करनेवाले और सर्वज्ञ तथा पूर्ण आनन्द प्राप्त करानेवाले वे भगवान निमित्तरूप से कहने में आते हैं।

अन्तर में देखें तो यह महा ऐसा सूर्य और मात्र दिशा दिखलावे, परन्तु आत्मा की

दशा प्राप्त करावे (नहीं)। हे महा सामान्य चैतन्यप्रभु! महा सामान्य चैतन्य ध्रुवधाम प्रभु आत्मा! यह तेरी जिसने नजर की और दृष्टिपथ में तू चैतन्य आया, उसकी पर्याय में निर्मलदशा हुई और उसकी दशा बदलकर दिशा पूरी बदल जाती है। समझ में आया? भगवान चैतन्य परमात्मस्वभाव! वह सूर्य प्रकाशपुंज। यह प्रकाशपुंज तो कहते हैं कुछ नहीं। यह प्रकाशपुंज उसके अन्तर नमो नमो नमः। 'नमः समयसाराय'—ऐसे चैतन्यप्रभु में जिसने स्वयं नमन किया, नम्रता की, विनय किया, आदर किया, उसकी पर्याय में शान्ति की प्राप्ति सम्यग्दर्शन की प्राप्ति उस आत्मा के भान से प्राप्त होती है। सूर्य से (प्राप्त) नहीं होती। तू चैतन्यसूर्य ही अलग जाति का है। भगवान को कहते हैं, तू चैतन्यसूर्य अलग जाति का, अपने आत्मा को कहते हैं, तेरे चैतन्यस्वभाव का प्रकाश तो अलग जाति का। तुझसे प्राप्ति हुए बिना रहे नहीं। केवलज्ञान अल्प काल में ले, ऐसा प्रभु तू है। तो दूसरे पुण्य आदि की सामग्री की, अभ्युदय की प्राप्ति हो, उसकी तो विशेषता है नहीं। वह तो साधारण साथ में मिल जाती है।

भावार्थ :- ज्ञानी की इच्छित वस्तु तो केवलज्ञान है। समझ में आया? है न? **इच्छित वस्तु दे देते हैं।** इच्छित ज्ञानी की भावना तो शुद्ध उपयोग की और पूर्णानन्द की प्राप्ति की इच्छा है। उसे सूर्य नहीं दे सकता। परन्तु चैतन्यसूर्य को भगवान त्रिलोकनाथ दे सकते हैं। क्योंकि वे देव हैं। 'ददाति इति देवः' आता है? अष्टपाहुड़ में आता है। हे भगवान! आप तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही देते हो। सेठी! प्रभु! आप परमात्मदशा निर्मलानन्द अनन्त काल में जो दशा प्रगट नहीं हुई, ऐसी आपने प्रगटायी। और उसे प्रगटाकर सूर्य की किरणें ऐसे डाली। सूर्य तो कहीं रहा परन्तु उसकी किरणें आवे तो यहाँ कमल खिल जाते हैं। किरण आवे तो कमल खिल जाते हैं।

उसी प्रकार भगवान पूर्णानन्द प्रभु आप, जहाँ भी आपकी वाणी की किरणें आयीं। उसे किरण कहते हैं न? समझ में आया? उन किरणों ने हमें निहाल कर दिया। हमारा आत्मा खिल गया। भगवान आत्मा की किरणें जो तुमने निकाली, (उनसे) हमारा आत्मा ज्ञान, दर्शन और शान्ति से खिल निकला। इसी प्रकार आत्मा स्वरूप में भक्ति से लो, ध्रुवधाम पूरा तो पर्याय में आता नहीं परन्तु उसकी शक्ति की भक्ति की

एकाग्रता करने से उसकी पर्याय में किरणें निर्मलदशा की प्रगट होती हैं, उसका नाम वास्तविक भक्ति और उसका नाम भगवान की भक्ति व्यवहार से कहने में आता है।

लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़कर सिर झुकाकर 'नमो नारायण'.... करते हैं या नहीं? सवेरे नहीं करते?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कैसा? काठी को सूर्य है न। सूर्य देवो। सूर्य देवो है वहाँ चोटीला के पास। गये हैं न। हम वहाँ रहे हैं न! सब देखा है। सूर्य का मन्दिर है। काठी लोग सूर्य को बहुत मानते हैं। इसलिए सवेरे वहाँ उतरे थे न वहाँ गाँव में। नानालालभाई के यहाँ। वहाँ सब काठी लोग आओ नमो नारायण.... नमो नारायण.... नारायण.... ऐसा किया करते हैं अन्दर में परस्पर जाये तो। नारायण.... नारायण.... नारायण.... अरे! नर का नारायण हो, वह आत्मा है। और सर्वज्ञ भगवान स्वयं नर के नारायण हुए, वे ही नारायण हैं।

यह सूर्य को कहते हैं कि **'नमो नारायण' कहते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं....** वास्तव में तो सूर्य को नमस्कार की तो ऐसी प्रथा थी (कि) चक्रवर्ती जब.... भगवान की अन्दर प्रतिमा है सूर्य में। भगवान की मूर्ति है। त्रिलोकनाथ परमात्मा की रत्न की शाश्वत् प्रतिमा है, उसे चक्रवर्ती की नजर में बहुत क्षयोपशम और उघाड़ (होता है)। उसके कारण वहाँ वह मूर्ति देखे, उसके महल में। उसे सवेरे पहले नमस्कार करते थे। समझ में आया? यह उसका सूर्य का नमस्कार अकेला रह गया। यह उसके बदले अकेले देव-गुरु और शास्त्र का व्यवहारनमस्कार रह गया। समझ में आया? परन्तु चैतन्य भगवान सूर्य नारायण वह पूर्णानन्द प्रभु अनन्त-अनन्त केवलज्ञान की किरण का भरचक भरा समुद्र, यह उसे जो नमे, उसे शान्ति की प्राप्ति और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहे। सूर्य तुम्हारा दिये बिना शाम को अस्त हो जाता है, कहते हैं। दिशा दिखलाकर चला जाता है। परन्तु तू दिशा पलटाकर दशा बनाकर तू हमें निमित्तरूप होता है।

और उससे इच्छित वरदान माँगते हैं,.... हे भगवान! आज सुखी करना, आज

दिन में। ऐसा कहते हैं न? **पर वह 'आज दूँगा, कल दूँगा' इस तरह आशा दिखाता हुआ....** अर्थात् आकर चला जाता है.... आकर चला जाता है.... आकर चला जाता है.... इस प्रकार आज दूँगा अर्थात्। **इस तरह आशा दिखाता हुआ....** दिशा दिखाता हुआ **दिन बिता देता है; किसी को कुछ देता-लेता नहीं है क्योंकि वह असमर्थ जो ठहरा,....** इसलिए वह चैतन्य को कुछ लाभ देने के लिये तो अशक्तिवान ठहरा। **पर आप नम्र मनुष्य को....** विनयवान को.... विनय.... विनय.... विनय.... विनय.... विनय.... वि-विशेष नम्रता। राग का बहुमान टला, निमित्त का बहुमान टला और स्वभाव का बहुमान हुआ, उसकी नम्रता की दशा में आप तो शान्ति में **इच्छित वस्तु क्षणभर में दे देते हैं;....** उसकी जैसी भावना, उसके प्रमाण में उसकी पर्याय में शान्ति की निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान की शान्ति की प्राप्ति होती है।

इस तरह आप सूर्य से भी बहुत बढ़कर हैं। सूर्य से भी आप **बहुत बढ़कर हैं।** उससे भी बढ़े-चढ़े आप हैं। परन्तु यह तो एक उपमा है। उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया?

काव्य ७

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि,
त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम्।
सदावदातद्युतिरेकरूप
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि॥

भक्तिभाव से सुमुख आपके, रहने वाले सुख पाते।
और विमुखजन दुःख पाते हैं, राग-द्वेष नहिं तुम लाते॥
अमल सुदुतिमय चारु आरसी, सदा एक-सी रहती ज्यों।
उसमें सुमुख-विमुख दोनों ही, देखें छाया ज्यों की त्यों॥

अन्वयार्थ — (त्वयि सुमुखः) आपके अनुकूल चलनेवाला पुरुष (भक्त्या) भक्ति से (सुखानि) सुखों को (उपैति) प्राप्त होता है (च) और (विमुखः) प्रतिकूल

चलनेवाला पुरुष (स्वभावात्) स्वभाव से ही (दुःखम् 'उपैति') दुःख पाता है; किन्तु (त्वम्) आप (तयोः) उन दोनों के आगे (आदर्श इव) दर्पण की तरह (सदा) हमेशा (अवदातद्युतिः) उज्ज्वल कान्तियुक्त तथा (एकरूपः) एक सदृश (अवभासि) शोभायमान रहते हैं।

भावार्थ — जिस प्रकार दर्पण के सामने मुँह करनेवाला पुरुष दर्पण में अपना चेहरा देखकर स्वयं सुखी होता है और पीठ देकर खड़ा हुआ पुरुष अपना चेहरा न देख सकने से स्वयं दुःखी होता है; उनके सुख-दुःख में दर्पण कारण नहीं है। दर्पण तो उन दोनों के लिए हमेशा एकरूप ही हैं, पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया से अपने आप सुखी और दुःखी होते हैं।

इसी प्रकार जो मनुष्य आपके विषय में सुमुख होता है अर्थात् आपको पूज्य दृष्टि से देखता है, आपकी भक्ति करता है, वह शुभकर्मों का बन्ध होने अथवा अशुभकर्मों की निर्जरा होने से स्वयं सुखी होता है और जो आपके विषय में विमुख रहता है अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति ही करता है, वह अशुभकर्मों का बन्ध होने से दुःख पाता है। उनके सुख-दुःख में आप कारण नहीं हैं; आप तो हमेशा दोनों के लिए राग-द्वेष रहित और चैतन्य-चमत्कारमय एकरूप ही हैं।

काव्य - ७ पर प्रवचन

सातवीं।

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि,
त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम्।
सदावदातद्युतिरेकरूप
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि॥

भक्तिभाव से सुमुख आपके, रहने वाले सुख पाते।
और विमुखजन दुःख पाते हैं, राग-द्वेष नहिं तुम लाते॥
अमल सुदुतिमय चारु आरसी, सदा एक-सी रहती ज्यों।
उसमें सुमुख-विमुख दोनों ही, देखें छाया ज्यों की त्यों॥

देखो! हृदय के उद्‌गार! कवि भगवान के प्रति अमृत की डकार निकालकर हृदय के उद्‌गार निकालते (व्यक्त करते) हैं। भो! नाथ! है न? **'त्वयि सुमुखः'** हे भगवान! **आपके अनुकूल चलनेवाला पुरुष....** सम्यग्दृष्टि। भगवान के अनुकूल वर्तनेवाला तो सम्यग्दृष्टि होता है। है न? अन्दर यह है। **'सुमुखः'** अर्थात् सम्यग्दृष्टि। ....प्रभु! **आपके अनुकूल चलनेवाला....** आपकी आज्ञा प्रमाण चलनेवाले। आपकी आज्ञा— स्वरूप का आराधन करो, यह आपकी आज्ञा है। समझ में आया? स्वरूप परमात्म तेरा तेरे पास है। उसका तू सेवन कर, उसका तू आराधन कर। ऐसी भक्ति करनेवाला जो सम्यग्दृष्टि वह **भक्ति से सुखों को प्राप्त होता है....** भगवान! आपकी भक्ति से, अनुकूलता से सम्यग्दृष्टि शान्ति को पाता है और तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के बाह्य अभ्युदय को भी इन्द्रिय के सुख की भी उसे प्राप्ति होती है। अज्ञानी को नहीं आत्मा का सुख, नहीं बाहर की लोकोत्तर के पुण्य से जो बँधी हुई सुख की सामग्री। समझ में आया?

सुखों को प्राप्त होता है और प्रतिकूल चलनेवाला.... प्रभु! आप तो आरसी समान हो। आरसी को.... समझ में आया? नीचे आयेगा। **प्रतिकूल चलनेवाला पुरुष स्वभाव से ही दुःख पाता है;....** मिथ्यादृष्टि, सर्वज्ञस्वभाव पूर्णानन्द प्राप्ति स्वयंसिद्ध अकृत्रिम चैतन्यदेव की प्राप्ति का भान जिसे नहीं और विमुखदृष्टि है, वह सुख से दुःख को प्राप्त होता है। उस दुःख की प्राप्ति मिथ्यादृष्टि को दुःख मिलता है। आत्मा की पर्याय में आकुलता और उसका पुण्य ऐसा नहीं होता कि जैसा सम्यग्दृष्टि के पुण्य की सामग्री, ऐसा उसके पास साधन नहीं होता। **दुःख पाता है;....** अन्दर तो बहुत लिखा है।

सौधर्म इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सुख प्राप्त करे। आत्मा की शान्ति तो पावे परन्तु सौधर्म इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती आदि (पदवी प्राप्त करे)। .... समझ में आया? और मिथ्यादृष्टि नरक, तिर्यंच, निगोद जनिता अशातम् मिथ्यादृष्टि को तो नारकी और निगोद के दुःख का भोग है। हे भगवान! आप त्रिलोकनाथ की भक्ति करें, उसे आत्मा की शान्ति मिलती है और सौधर्म आदि इन्द्र और तीर्थंकर के पद की प्राप्ति होती है। और आपकी जो अवज्ञा करे, विरोध करे.... बड़ा विवाद उठा है, कौन जाने। सर्वज्ञपद का पूरा। सर्वज्ञपद जो पूरा धर्म का मूल, अरिहन्त पद जिसकी वाणी उपकारी, ऐसे अरिहन्त

कौन हैं ? णमो अरिहन्ताणं। उनके केवलज्ञान का विषय एक समय का। थोड़ा पढ़ाया था भाई पण्डितजी को। आहार के समय। यह विषय अनादि का। देखो ऐसा कहना चाहे तो अनादि-अनन्त है, ऐसा उत्तर देना पड़े, इसकी अपेक्षा संक्षिप्त कर दिया। और विषय पूर्ण कहना चाहे, इसलिए तीन काल-तीन लोक भगवान देखते हैं। बात पूरी हो गयी। अब करना क्या ?

सर्वज्ञ प्रभु.... समझ में आया ? ऐसा देखते हैं। तीन काल-तीन लोक एक समय में अपने स्वभाव के सामर्थ्य से, जिस प्रमाण होता है सामने.... भले कर्ता नहीं, होता है। अब करना क्या ? समझ में आया ? ऐसे सर्वज्ञ को स्वीकार करे तो अपने करने का क्या रहे ? समझ में आया ? एक व्यक्ति ने यह प्रश्न किया था। (संवत्) १९९२ के वर्ष में वहाँ हीराभाई के मकान में। यह केवलज्ञानी ने सब देखा हो तो फिर अपने हाथ में पुरुषार्थ नहीं रहता। यह सब होली ऐसी की ऐसी चली ही आती है। साधु हुआ स्थानकवासी का। पाँच वर्ष में बड़ा पण्डित हो गया। .... पश्चात् पढ़ा हुआ और फिर छोड़ दिया। उसे जैन की आस्था उड़ गयी। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में कुछ ईश्वर का अधिकार अन्दर है। ईश्वर बिना यह नहीं होता। असाता का उदय यहाँ आवे और बैल का सींग आकर लगे, इन दोनों का मेल कौन करता है ? समझ में आया ? असाता का उदय आवे और यहाँ बैल का सींग (लगे)। बैल आकर यहाँ खड़ा हो। उसमें मारे सींग। अब उसे किसने कहा और उसे कैसे खबर पड़ी असाता को कि इसे लाऊँ ? बैल को कहाँ से खबर पड़ी कि असाता का उदय है, इसलिए जाऊँ ? आहाहा! अरे! अरे! सहज ऐसे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध लाखों, करोड़ों अनन्त एक समय में बन रहे हैं। उसमें कर्ता-फर्ता और ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। उसने यह प्रश्न किया कि केवली ने देखा हो, तत्प्रमाण हो तो पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

केवलज्ञानी मानते हो ? मैंने कहा। केवलज्ञान मानते हो ? नहीं, नहीं; यह नहीं। यह नहीं तो पहले केवलज्ञान है या नहीं, ऐसा निर्णय कर। ऐसे कहीं अध्धर से चले, केवलज्ञानी ने देखा, वह बदलेगा नहीं। केवलज्ञान है, ऐसा तू मानता है ? इस जगत में आत्मा सर्वज्ञस्वभावी प्रगट हो सकता है। सर्वज्ञ परमात्मा है। केवलज्ञान की सत्ता

वर्तमान मौजूद है। मानता है? नहीं तो न माने तो उसका निर्णय करें। परन्तु कुछ ठिकाना नहीं होता।

इसी प्रकार आत्मा की सर्वज्ञशक्ति से सर्वज्ञ पद प्राप्ति तीन काल-तीन लोक में अनन्त जीव को हुई है। सम्यग्दर्शन में देवों ने भी स्वीकार की है। केवलज्ञान अब हम अल्प काल में लेनेवाले हैं। हमारी श्रद्धा में केवलज्ञान श्रद्धा से प्रगट हुआ है। हम केवलज्ञानी नहीं थे स्वभाव से वह श्रद्धा के भान में हमें केवलज्ञान श्रद्धा से प्रगट हुआ है। इच्छा वर्तती है। इच्छा से केवलज्ञान वर्तता है, मुख्यनय के हेतु से (केवलज्ञान वर्तता है)। श्रीमद् ने कहा न पत्र में? निश्चयनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है। वर्तता है। सुन! समझ में आया? ज्ञान की भावना में भी यही वर्तता है। केवल.... केवल... केवल... पूर्ण। आहाहा! ऐसे भगवान स्तुति और भक्ति करे और उसे क्षणमात्र में आत्मा की शान्ति और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र न हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। समझ में आया? यह वास्तव में भगवान की भक्ति करनेवाला है।

इस तरह आप सूर्य से बहुत अधिकतर हैं। यह तो आ गया है। आपकी जो भक्ति अनुकूलता वह... भक्ति का अर्थ ही है—निश्चयभक्ति और व्यवहारभक्ति। निश्चयभक्ति सम्यग्दर्शन और व्यवहारभक्ति शुभविकल्प की, भगवान की। जो यह भक्ति करे, वह आपके भक्ति करनेवाले सुमुख अर्थात् सुमुख-आपकी अनुकूल, उसे सुख की प्राप्ति आत्मा की और बाहर की सब होती है। सब होती है। नरेन्द्र, चक्रवर्ती आदि हो, वह समकितदृष्टि हो सकता है। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, इन्द्र वह सम्यग्दर्शन पूर्व में पाये बिना ऐसा पुण्य कभी बँधता नहीं। और कहते हैं, आपके विरोधी, आपके विरोधी सर्वज्ञपद को नहीं स्वीकार करनेवाले, मिथ्यादृष्टि पूर्णानन्द की प्राप्त की प्राप्ति हो सकती है और (प्राप्त) हुए भगवान विराजते हैं, ऐसा नहीं माननेवाले महा असाता के नरक, निगोद के दुःख पाते हैं। क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि है, वह अन्त में निगोद में गये बिना रहेगा नहीं और यह सम्यग्दृष्टि है तो केवलज्ञान प्राप्त किये बिना रहेगा नहीं। **दर्पण की तरह हमेशा उज्ज्वल कान्तियुक्त....** दर्पण की तरह हमेशा उज्ज्वल कान्तियुक्त आप तो रहते हो। **एक सदृश शोभायमान रहते हैं।** आपमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

भावार्थ - जिस प्रकार दर्पण के सामने मुँह करनेवाला.... (दृष्टान्त) देखो! दर्पण के सामने देखनेवाला। ऐसे देखे, उसे मुख दिखता है। दर्पण में सामने देखनेवाला मुख देखता है। अपनी मुख्यता देखता है। समझ में आया? **दर्पण में अपना चेहरा देखकर स्वयं सुखी होता है और पीठ देकर खड़ा हुआ पुरुष....** और दर्पण के-दर्पण से पीठ देकर खड़ा हुआ, वांसो देकर खड़ा हुआ, भगवान! **अपना चेहरा न देख सकने से स्वयं दुःखी होता है;....** उसके अपने शरीर का स्वरूप क्या है, वह देख नहीं सकता। इसलिए अपनी, शरीर की बात है न अभी?

उनके सुख-दुःख में दर्पण कारण नहीं है। उसे सुख-दुःख में दर्पण कारण नहीं है। दर्पण तो पड़ा है, ऐसा का ऐसा। जिसने सामने देखा, उसे चेहरा वर्ता और आड़ा पड़ा, उसे चेहरा नहीं दिखाई दिया। **दर्पण तो उन दोनों के लिए हमेशा एकरूप ही हैं,....** दोनों के लिये दर्पण तो एक दशा को धारण करता है। **पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया से अपने आप सुखी और दुःखी होते हैं।** यह दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार जो मनुष्य आपके विषय में सुमुख होता है.... ओहो! सर्वज्ञ परमात्मा का दास हो, अनुकूल हो, प्रशंसनीय हो, सत्कार करनेवाला हो, ऐसे सर्वज्ञपद को स्वीकार मान्यतावाला हो, वह सर्वज्ञ के सामने उसने देखा। समझ में आया? सर्वज्ञ जैसे हैं, वैसा देखा। **अर्थात् आपको पूज्य दृष्टि से देखता है,....** अहो! देवाधिदेव सर्वज्ञ परमात्मा पूर्णानन्द की जिन्हें प्राप्ति (हुई है), वीतराग विज्ञानघन खिल निकला है। ऐसी जिसे अन्तर में पूज्यदृष्टि परमात्मा के प्रति हुई .**आपकी भक्ति करता है, वह शुभकर्मों का बन्ध होने अथवा अशुभकर्मों की निर्जरा होने से....** यह व्यवहार से बात की। अन्दर शुद्धि तो होती है, परन्तु उसे पुण्य के परिणाम ऐसे होते हैं कि जिससे शुभकर्म का बन्ध होता है और अशुभकर्म का निर्जरारूप से नाश होता है। **अशुभकर्मों की निर्जरा होने से स्वयं सुखी होता है....** अन्तर में शुद्धि की प्राप्ति, बाहर में ऐसे सुख के साधन सहज मिल जाते हैं।

और जो आपके विषय में विमुख रहता है.... मिथ्यादृष्टि है। **अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति ही करता है, वह अशुभकर्मों का बन्ध होने**

से दु:ख पाता है। उनके सुख-दु:ख में आप कारण नहीं हैं;.... आप कारण नहीं तो.... यह तो उसके भाव की दशा कारण है। कहीं दर्पण कारण नहीं। **आप तो हमेशा दोनों के लिए राग-द्वेष रहित और चैतन्य-चमत्कारमय एकरूप ही हैं।** भगवान! आप तो चैतन्य चमत्कार (ही रहते हो)। भगवान को लक्ष्य कर बात करते हैं। उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव की सन्मुखता में उसे देखनेवाला, उस स्वभाव के सन्मुख देखनेवाला—चैतन्य दर्पण के सन्मुख देखनेवाला सहज शान्ति और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है। और चैतन्य ध्रुव सामान्य से विमुख रहनेवाले अर्थात् कि, पुण्य को भला माननेवाले, निमित्तों को भला माननेवाले; स्वभाव को भला माननेवाले नहीं। सहज दु:ख के पात्र और दु:खी होकर भटकेंगे। सेठी!

चैतन्यप्रभु पूर्ण परमात्मशक्ति, सामान्य स्वभाव के सन्मुख जिसने देखा, उसकी जिसे अभिमुखता हुई, वह तो उसका विनय करनेवाला हुआ। अर्थात् उसे तो सहज शान्ति और बाह्य साधनों की सुख सामग्री मिलेगी। ऐसे स्वभाव का जिसने अनादर किया, अविनय किया, पीठ जिसने दी, आहाहा! वह शुभ और अशुभ परिणाम के सामने देखकर खड़ा रहा और चैतन्य भगवान प्रकाश का पुंज, उसमें जिसने देखा नहीं। समझ में आया? उसे चैतन्यचमत्कार का लाभ अन्दर से नहीं होता। परन्तु उसे चार गति में भटकने का नुकसान होता है। कहो, समझ में आया?

क्या कहा इसमें? चैतन्य महासत्ता प्रभु, वह चैतन्य महासत्ता प्रभु, उसके सामने जिसने देखा, वह निहाल हो गया, कहते हैं। और चैतन्य महासत्ता प्रभु में जो विमुख रहा और विकार की वृत्ति का आदर किया, वह स्वयं के ही कारण दु:खी हुआ। वह चैतन्यसूर्य महाधाम प्रभु तो ऐसा का ऐसा है। समझ में आया? जैसे दर्पण ऐसा का ऐसा है, उसी प्रकार चैतन्य भगवान धाम सूर्य ऐसा का ऐसा है। सात हुई।

काव्य ८

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिः,
मेरोश्च, तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव,
व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि॥

गहराई निधि की, ऊँचाई गिरि की, नभ थल की चौड़ाई।
वहीं-वहीं तक जहाँ-जहाँ तक, निधि आदिक दें दिखलाई॥
किन्तु नाथ! तेरी अगाधता, और तुङ्गता, विस्तरता।
तीन भुवन के बाहिर भी है, व्याप रही हे जगतपिता!॥

अन्वयार्थ — (अब्धेः) समुद्र की (अगाधता) गहराई (तत्र अस्ति) वहाँ है, (यतः सः पयोधिः) जहाँ वह समुद्र है। (मेरोः) सुमेरु पर्वत की (तुङ्गा प्रकृतिः) उन्नत प्रकृति अर्थात् ऊँचाई (तत्र) वहाँ है, (यत्र सः) जहाँ वह सुमेरुपर्वत है (च) और (द्यावापृथिव्योः) आकाश-पृथ्वी की (पृथुता) विशालता भी (तदैव) उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथ्वी हैं, वहीं उनकी विशालता है परन्तु (त्वदीया अगाधता, तुङ्गा प्रकृतिः, पृथुता च) हे प्रभु! आपकी गहराई, उन्नत प्रकृति और हृदय की विशालता ने (भुवनान्तराणि) तीनों लोकों के मध्यभाग को (व्याप) व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ — अगाधता शब्द के दो अर्थ हैं — समुद्र वगैरह में पानी की गहराई और मनुष्य हृदय में रहनेवाले धैर्य की अधिकता। 'तुङ्गा प्रकृति' शब्द भी द्व्यर्थक है - पहाड़ वगैरह की ऊँचाई और मन में दीनता का न होना। इसी तरह पृथुता, विशालता के भी दो अर्थ हैं - जमीन, आकाश वगैरह के प्रदेशों का फैलाव और मन में सबको अपनाने के भाव, सब के प्रति प्रेममयी भावना।

भगवन्! समुद्र की गम्भीरता समुद्र के ही पास है, मेरुपर्वत की ऊँचाई मेरु के ही पास है और आकाश-पृथ्वी का विस्तार भी उन्हीं के पास है; परन्तु आपकी अगाधता अर्थात् धैर्यवृत्ति, ऊँचाई अर्थात् अदैन्यवृत्ति और पृथुता अर्थात् उदारवृत्ति सारे संसार में फैली हुई है; इसलिए जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्र के

समान है, उन्नत प्रकृति मेरु की तरह है और विशालता आकाश-पृथ्वी के सदृश है; वे भूल करते हैं।

काव्य - ८ पर प्रवचन

आठवीं।

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिः,
मेरोश्च, तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव,
व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि॥

गहराई निधि की, ऊँचाई गिरि की, नभ थल की चौड़ाई।
वहीं-वहीं तक जहाँ-जहाँ तक, निधि आदिक दें दिखलाई॥
किन्तु नाथ! तेरी अगाधता, और तुङ्गता, विस्तरता।
तीन भुवन के बाहिर भी है, व्याप रही हे जगतपिता!॥

लो! यह स्तुति अमृत के भणकार बजती हुई अन्दर से उठती है। भो देव! हे सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ देवाधिदेव! **आपकी समुद्र की गहराई तत्र अर्थात् वहाँ है,....** क्या कहते हैं? यह समुद्र की गहराई एक हजार योजन, समुद्र की गहराई एक हजार योजन दरियातट में रही है। **जहाँ वह समुद्र है।** जहाँ समुद्र है, वहाँ उसकी गहराई हजार योजन है। **सुमेरुपर्वत की उन्नत प्रकृति....** मेरुपर्वत की उन्नत अर्थात् ऊँचाई का स्वभाव **ऊँचाई वहाँ है, जहाँ वह सुमेरुपर्वत है....** जहाँ मेरुपर्वत है, वहाँ उसकी ऊँचाई है। लाख योजन का है न मेरु? लाख योजन और चालीस योजन। वह चूलिका है न ऊपर। एक लाख योजन और चालीस (योजन) या ऐसा कुछ है। ऐसी चूलिका वहाँ-वहाँ उसकी ऊँचाई है। वह उन्नत प्रकृति वहाँ उसकी समाहित है।

और आकाश-पृथ्वी की विशालता भी.... उस पृथ्वी की विशालता। आकाश की। अभी यहाँ लोक तक का आकाश लेना। **आकाश-पृथ्वी की विशालता भी उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथ्वी हैं,....** कहो, समझ में आया? क्रमशः ३४३

राजू पृथ्वी है। चौदह ब्रह्माण्ड। प्रभु आप कहाँ! वह उसकी तो वहाँ ही व्यापकता और उसकी स्थिति वहाँ है। समझ में आया? **विशालता भी वहाँ है; उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथ्वी हैं, वहीं उनकी विशालता है परन्तु 'त्वदीया अगाधता, तुङ्गा प्रकृतिः, पृथुता च'** हे भगवान! **हे प्रभु! आपकी गहराई,....** तीन काल तीन लोक में व्याप रही है गहरी। आपके ज्ञान की गहराई गम्भीरता आपके पास उतने में रही नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया? समुद्र की गहराई वहाँ, मेरु की वहाँ, पृथ्वी की पृथ्वी में। आपकी गम्भीरता और आपकी प्रकृति की गहराई—ऊँधाई और उन्नत प्रकृति—स्वभाव प्रकृति अर्थात्। हे भगवान! आपका स्वभाव। **और हृदय की विशालता....** आपके ज्ञान की हृदय की विशालता **तीनों लोकों के मध्यभाग को व्याप्त कर लिया है।** सब तीन काल को, तीन लोक को जानकर ऐसी तेरी विशालता रही है। समझ में आया? यह सब तुच्छता है, प्रभु! तेरे ज्ञान और तेरे आनन्द की कोई महत्ता की प्रकृति कोई माप जाये, ऐसा नहीं है।

भावार्थ - अगाधता शब्द के दो अर्थ हैं—समुद्र वगैरह में पानी की गहराई और मनुष्य हृदय में रहनेवाले धैर्य की अधिकता। अगाधता के दो अर्थ हुए। समुद्र इत्यादि की पानी की गहराई और मनुष्य के हृदय में धैर्य की अधिकता। धीरज.... धीरज.... धीरज.... धीरज.... **'तुङ्गा प्रकृति' शब्द भी द्व्यर्थक है -'तुङ्गा'** अर्थात् ऊँचाई। **पहाड़ वगैरह की ऊँचाई और मन में दीनता का न होना।** मन में दीनता का न होना, वह हृदय की उन्नत प्रकृति है और पहाड़ की ऊँचाई पहाड़ में है।

इसी तरह पृथुता, विशालता के भी दो अर्थ हैं - जमीन, आकाश वगैरह के प्रदेशों का फैलाव.... वह जमीन और उसका फैलाव उस प्रदेश का है पृथुता। **मन में सबको अपनाने के भाव,....** यह मन में सब लोग, तीन काल तीन लोक का ज्ञान, यह अपने में फैलाव का भाव अथवा **सब के प्रति प्रेममयी भावना।** प्रेम का अर्थ कि सब वस्तु है। सब वस्तु है। ऐसा ज्ञान करना, वह सब वस्तु का प्रेम कहने में आता है। नहीं है, ऐसा कहना उसका द्वेष किया जैसा है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, छह द्रव्य, नव तत्त्व नहीं, वह पदार्थ का द्वेष है। है, ऐसा ज्ञान अन्तर में बैठना, वह पदार्थ का प्रेम है। समझ में आया?

कहते हैं कि हे नाथ! आपको **सब के प्रति प्रेममयी भावना है।** पूरे तीन काल तीन लोक के प्रति का ज्ञान आपको व्याप्त हो गया है। कोई नहीं एक अंश भी ऐसा आपको रहा नहीं। आप ही प्रेममय परमात्मा हो। आप ही प्रेममयी प्रेम की मूर्ति आप ही हो। दुनिया कहे कि इसने... इसने.... इसने.... प्रेम किया, अमुक ने प्रेम किया, वह प्रेम नहीं है। वह खण्ड-खण्ड प्रेम है और रागवाला (है)। यह तीन काल तीन लोक को जाननेवाले, कोई बात आपके निषेध में रही नहीं। यह नहीं, ऐसा रहा नहीं। वह सब है.... है.... है। ऐसा आपने प्रेममय जीवन को बिताया है। प्रभु! आप ही प्रेममय हो।

भगवन्! समुद्र की गम्भीरता समुद्र के ही पास है,.... भावार्थ। **भगवन्! समुद्र की गम्भीरता....** भगवन कहकर कहा है। भावार्थ नहीं किया। **मेरुपर्वत की ऊँचाई मेरु के ही पास है और आकाश-पृथ्वी का विस्तार भी उन्हीं के पास है; परन्तु आपकी अगाधता अर्थात् धैर्यवृत्ति, ऊँचाई अर्थात् अदैन्यवृत्ति और पृथुता अर्थात् उदारवृत्ति सारे संसार में फैली हुई है;....** इन्द्र और नरेन्द्र भी आपकी प्रशंसा और उदारवृत्ति की प्रशंसा करते हैं। समझ में आया?

इसलिए जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्र के समान है,.... कोई कहता है कि आपकी गम्भीरता समुद्र के समान है। प्रभु! वह भूल करता है। आता है न उसमें, नहीं आता? सागरवर गम्भीरा। लोगस्स में आता है। आता है? महाराज! प्रभु! वह भूल करता है। कहाँ समुद्र की गम्भीरता, अगाधता और कहाँ आपकी अगाधता! वह समुद्र के साथ आपकी अगाधता को मिलावे, प्रभु! वह भूल करता है। समझ में आया?

उन्नत प्रकृति मेरु की तरह है.... आपकी उन्नत अर्थात् ऊँचाई मेरु तरह—मेरु जितनी है। वह सब भूल खाते हैं। उसकी उन्नतता और आपकी उन्नतता के साथ कुछ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। **और विशालता आकाश-पृथ्वी के सदृश है; वे भूल करते हैं।** आपकी विशालता, आपकी अगाधता और आपकी उन्नतता किसी के साथ मिले, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य महाप्रभु की अगाधता, ध्रुव धातु भगवान आत्मा अगाध... अगाध.... अगाध.... केवलज्ञान, केवलदर्शन, परम आनन्द,

अनन्त वीर्य प्रगट होने पर भी कुछ बाकी-कम हुआ है.... है या मतिज्ञान के समय ज्ञान पर्याय में बहुत कम था, इसलिए उसमें-शक्ति में अधिक था, और जब केवलज्ञान प्रगट हुआ तब अन्दर में शक्ति (घट गयी - ऐसा नहीं)। प्रभु! तेरे किसी गुण की अगाधता है। समझ में आया ? इतनी-इतनी पर्याय प्रगट हो। आयी कहाँ से ? कि उसमें से। कम हुआ ? आहाहा! समझ में आया ? यह माप नहीं आता। प्रभु! तेरी तो कोई अगाधता है। अनन्त वीर्य प्रगट हुआ। एक अनन्तवें भाग में वीर्य निगोद के जीव को रहा अनन्तवें भाग एक अक्षर के अनन्तवें भाग का ज्ञान रहा। तो भी वस्तु तो ध्रुव चैतन्यप्रभु, महाप्रभु ऐसा का ऐसा है। नरभेरामभाई! यह दूसरे प्रकार की भक्ति चलती है। आहाहा! पैसे का नहीं उसे कुछ। समझ में आया इसमें ?

क्या कहते हैं ? आहाहा! प्रभु! तेरी तो कोई अगाधता! कहीं साधारण तर्क के माप में नहीं आते। अनन्त-अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदवाला केवलज्ञान, तथापि तेरा द्रव्यस्वभाव चैतन्य धातु सूर्य तो ऐसा का ऐसा है। उसमें कहीं कुछ कमी निकली (नहीं)। आहाहा! समझ में आया ? कहाँ दु:ख की दशा निगोद की पर्याय में और कहाँ आनन्द अतीत की आनन्द का अनन्त-अनन्त विभाग अनन्त अपार अविभागवाला अनन्त आनन्द, तो आनन्द की जो गहराई जो आत्मा द्रव्य में है (वह) अगाध है। ऐसे बाहर से माने, ऐसा नहीं। उसकी महिमा में यह बात आनी चाहिए। ओहोहो! यह वह कहीं दिव्यशक्ति! जिसकी अगाध, जिसकी गम्भीरता। गम्भीर.... गम्भीर.... गम्भीर गहराई। और जिसकी उन्नत प्रकृति। स्वभाव ऐसा का ऐसा गहरा अनादि का है, ऐसी चैतन्यधातु महाप्रभु स्थित है। समझ में आया ? महाप्रभु क्यों कहा ? कि पर्याय में प्रभु हो, वह उस महाप्रभु में से आता है। समझते हैं या नहीं जरा! वे महाप्रभु दूसरे भी कहते हैं न बहुत ? कि यह महाप्रभु। नहीं कहते दूसरे में ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ अमुक। अरे! वह यह महाप्रभु है। दूसरा कोई महाप्रभु नहीं। वर्तती पर्याय जिसे महाप्रभु है। पर्याय में। और भगवान आत्मा महाप्रभु है वस्तु में। स्वभाव.... स्वभाव.... स्वभाव.... यह क्या कहते हैं ? किस डण्डे से माप करना ?

किस हाथ से और किस गज से माप करना? ऐसा चैतन्य महा भगवान। एक समय की प्रगट पर्याय, इसके अतिरिक्त पूरी वस्तु! मति के अनन्तवें भाग की ज्ञान की पर्याय उघड़ी हो या पूर्ण उघड़ी हो। दर्शन के अनन्तवें भाग की पर्याय उघड़ी हो या पूर्ण उघड़ी हो। दुःख की पर्याय हो पूर्ण और पूर्ण आनन्द उघड़ा हो। एक वीर्य बहुत थोड़ा हो, तो जो ज्ञान और उपशम का थोड़ा उसकी रचना में रुकता था, वहाँ अनन्तवीर्य जो अनन्त केवलज्ञान दर्शन को रचने में रुकता है। ऐसी पर्याय प्रगट होने पर उसके ध्रुवस्वभाव की गम्भीरता का पार नहीं होता। कहीं कम बैठे, नहीं बैठे। अब तो पूरी हो गयी न। अब पूरी हो गयी न, था उतना? सुन न! था उतना अर्थात् क्या? वहाँ तो अगाध पड़ा है। समझ में आया? आहाहा! उसने चैतन्य महाशक्ति क्या है और चैतन्य का स्वभाव देवाधिदेव है वह। देवाधिदेव आत्मा है। ऐसे द्रव्यस्वभाव की महत्ता और दृष्टि में कहते हैं कि अरे! प्रभु! उसमें कुछ माप हमारे ज्ञान की पर्याय में नहीं आता, ऐसा तेरा अगाधपना है। समझ में आया? ऐसा चैतन्य महासामान्य प्रभु, यह उसकी श्रद्धा-ज्ञान की भक्ति करना, यह उसे कहते हैं कि तेरे अगाध का पार नहीं। हम तो वहाँ निर्विकल्प होकर स्थिर होते हैं। विकल्प किये बिना, निर्विकल्प से स्थिर होते हैं, वह तेरी अगाधता का ज्ञान आवे। परन्तु बाकी पार पड़े, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

काव्य ९

तवानवस्था परमार्थतत्त्वम्,
त्वया न गीतः पुनरागमश्च।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीः,
विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम्॥

अनवस्था को परम तत्त्व, तुमने अपने मत में गाया।
किन्तु बड़ा अचरज यह भगवन्, पुनरागमन न बतलाया॥
त्यों आशा करके अदृष्ट की, तुम सुदृष्ट फल को खोते।
यों तव चरित दिखें उलटे से, किन्तु घटित सब ही होते॥

अन्वयार्थ — (अनवस्था) भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता (तव) आपका (परमार्थतत्वम्) वास्तविक सिद्धान्त है (च) और (त्वया) आपके द्वारा (पुनरागमः न गीतः) मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं गया है तथा (त्वम्) आप (दृष्टम्) प्रत्यक्ष इस लोक सम्बन्धी सुख (विहाय) छोड़कर (अदृष्टम्) परलोक सम्बन्धी सुख को (ऐषीः) चाहते हैं, इस तरह (त्वम्) आप (विरुद्धवृत्तः अपि) विपरीत प्रवृत्तियुक्त होने पर भी (समंजसः) उचितता से युक्त हैं।

भावार्थ — जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं, सभी में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है, तब सिद्धों में भी परिवर्तन अवश्य होगा। किन्तु आप उनके पुनरागमन को / संसार में वापिस आने को स्वीकार नहीं करते, यह विरुद्ध बात है। जो मनुष्य प्रत्यक्ष -सामने रखी हुई वस्तु को छोड़कर, अप्रत्यक्ष परभव में प्राप्त होनेवाली वस्तु के पीछे पड़ता है, लोक में वह अच्छा नहीं कहलाता परन्तु आप वर्तमान के सुखों को छोड़कर भविष्य के सुख प्राप्त करने की इच्छा से उद्योग करते हैं, यह भी विरुद्ध बात है। पर जब इन दोनों बातों का तत्त्वदृष्टि से विचार करते हैं, तब वे दोनों बातें ठीक मालूम होने लगती हैं, जिससे आपकी यह प्रवृत्ति उचित ही ठहरती है।

यद्यपि पर्यायदृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है, सिद्धों में भी होता है, तथापि द्रव्यदृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप हैं। संसार में आने का कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में जड़मूल से नष्ट हो जाता है; इसलिए सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार में वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है।

इसी तरह आपने वर्तमान में क्षणभङ्गुर इन्द्रियजनित सुखों से मोह छोड़ कर सच्चे आत्मसुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि यह प्राणी इन्द्रियजनित सुख में लगा रहता है। इसलिए प्रत्यक्ष के अल्पसुख को छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से यदि परभव में सच्चा सुख प्राप्त होता हो तो उसे कौन प्राप्त नहीं करना चाहेगा ? — इस श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार है।

नवमी।

तवानवस्था परमार्थतत्त्वम्,
त्वया न गीतः पुनरागमश्च।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीः,
विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम्॥

अनवस्था को परम तत्त्व, तुमने अपने मत में गाया।
किन्तु बड़ा अचरज यह भगवन्, पुनरागमन न बतलाया॥
त्यों आशा करके अदृष्ट की, तुम सुदृष्ट फल को खोते।
यों तब चरित दिखें उलटे से, किन्तु घटित सब ही होते॥

धुन लगी है, उन्हें धुन। यह आत्मा जागृत होकर खड़ा हो और उस लड़के को सर्प काटा था, वह एकदम जागकर खड़ा हो गया। समझ में आया? स्तुति करते हैं न! सहज पुण्य का योग ऐसा आया कि लड़के को वह सर्प काटा और लाकर डाल दिया मुर्दा भगवान के सामने। मन्दिर में वह (धनंजय) भक्ति करता था, उसका पिता। सामने देखा नहीं, सामने। देखा भगवान के सामने। पर के सामने देखा नहीं। उसमें पुण्य का पलटा ऐसा एकदम हुआ (कि) आलस्य मरोड़कर खड़ा हुआ। ओहोहो! यह प्रभा! यह भगवान की महिमा! अरे! मुर्दा जागृत होता है, कहते हैं यहाँ तो। समझ में आया? उसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु के सन्मुख देखे, वह जीवन में मर गया, वह जागृत होता है। सेठी! यह भगवान की भक्ति चलती है। इसने कभी सच्ची भक्ति भी नहीं की। भक्ति का क्या रूप और स्वरूप है, इसने कभी अन्तर से सुना नहीं।

हे नाथ! **अन्वयार्थ - भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता....** आपने तो परिणमनशील द्रव्यों का स्वभाव बतलाया है। भ्रमण अर्थात् परिणमन उसका लेना है। भ्रमण अर्थात् परिणमने का स्वभाव, बदलने का स्वभाव, एकरूप नहीं रहने का स्वभाव। **आपका वास्तविक सिद्धान्त है....** वास्तविक तो आपका यह सिद्धान्त है। **और आपके द्वारा**

मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं गया.... यह तो दो पलट खा गया। दोनों विरुद्ध हो गया। आहाहा! एक ओर कहते हो कि पलटा खाता है। और सिद्ध हो और वापस जन्मे नहीं। वह पलटा नहीं खाता। आपकी कोई बलिहारी है, प्रभु! समझ में आया?

मुमुक्षु : वापस हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वापस हुआ नहीं यह। यहाँ तो कहे, हुआ वह हुआ। प्रवचनसार में आता है न, भाई! नहीं? उत्पाद ऐसा है कि व्यय बिना का। गाथा है न? हे नाथ! आत्मा की सिद्धपर्याय आपने प्रगट की, तो वह उत्पाद हुआ, वह हुआ। उस उत्पाद का व्यय अब कभी होगा नहीं। उस उत्पाद के व्यय का अर्थ कि संसार का अब उत्पाद हो, ऐसा आपमें बनता नहीं। यह दशा आपने ही कही है और आपमें ही होती है। अन्यत्र हो नहीं सकती। समझ में आया?

और हे नाथ! आपने व्यय किया, वह अब उत्पाद कभी होगा नहीं। आपने जिस संसार का व्यय अर्थात् नाश किया, उसका कभी अब उत्पाद होगा नहीं। संसार के नाश का उत्पाद अब नहीं और मुक्ति का उत्पाद, उसका कभी व्यय नहीं। ऐसी चीज़ की प्राप्ति परमात्मा त्रिलोकनाथ परमेश्वर आपने की है। यहाँ भी यह कहते हैं, प्रभु! आपने भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता तो कहा तत्त्व, परिणमता है वह।

आपके द्वारा.... 'पुनरागमः न गीतः' पुनः आगमन न गीतः **मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं गया है....** समझे? आगम में कभी ऐसा नहीं कहा कि भाई! वे सिद्ध वापस आयेंगे। परिवर्तनशील है, इसलिए आगम में ऐसा नहीं कहा, फिर से नीचे आयेंगे। **'पुनरागमः न गीतः'** आगम में नहीं गाया अथवा **'पुनरागमः न गीतः' मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं....** समझ में आया? एक बोल यह हुआ।

दूसरा बोल। **आप प्रत्यक्ष इस लोक सम्बन्धी सुख छोड़कर....** अरे! दिखता है, उसे छोड़ा और नहीं दिखता है, उसे लिया। हाथ में आया, उसे छोड़ा और हाथ में नहीं, उसे ग्रहण करने लगा। क्या कहा, समझ में आया? **आप प्रत्यक्ष इस लोक सम्बन्धी (इन्द्रिय के) सुख छोड़कर परलोक सम्बन्धी सुख को चाहते हैं,....** परमात्मदशा की

पूर्णानन्द की प्राप्ति जो शक्ति में है, प्रगट में नहीं, उसकी आपने भावना की और विद्यमान सुख इन्द्रिय के प्राप्त हुए, उन्हें आपने छोड़ दिया।

इस तरह आप विपरीत प्रवृत्तियुक्त हो.... आप तो विपरीत प्रवृत्तियुक्त हो। तथापि वह **उचितता से युक्त हैं। 'समंजस'** यह बात ही समंजस और सच्ची है। विषय इन्द्रिय के लक्ष्य को छोड़कर, अतीन्द्रिय भगवान आत्मा के आनन्द की प्राप्ति आपने की। ऐसे देखो तो छोड़ा है मिला उसे। नहीं मिला, उसकी भावना करते हो। प्रभु! सामंजस्य बराबर है। आपने इन्द्रिय के विषयों का लक्ष्य और आश्रय छोड़ा। अतीन्द्रिय भगवान आत्मा के आनन्द में प्रविष्ट हुए। अनन्त काल में नहीं प्राप्ति हुई, ऐसी अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति की।

भावार्थ - जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं, सभी में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है,.... प्रत्येक पदार्थ में नयी-नयी पर्याय उत्पन्न होती है, पुरानी व्यय (होती है) और ध्रुवपना रहता है। **तब सिद्धों में भी परिवर्तन अवश्य होगा।** तो सिद्ध में भी परमात्मपद में भी परिवर्तन (होता है)। क्योंकि परिवर्तनशील तो स्वभाव आपने कहा है। **किन्तु आप उनके पुनरागमन को / संसार में वापिस आने को स्वीकार नहीं करते,....** परन्तु वहाँ से वापस पड़े, इसका स्वीकार नहीं है। **यह विरुद्ध बात है।** तथापि उसमें सामंजस्यता है। ऐसा ही होता है, प्रभु। पूर्ण प्राप्त हो और उसे फिर से अवतार? यह परमात्मा की भक्ति के गुणग्राम का स्तवन इस प्रकार से करते हैं।

जो मनुष्य प्रत्यक्ष-सामने रखी हुई वस्तु को छोड़कर, अप्रत्यक्ष परभव में प्राप्त होनेवाली वस्तु के पीछे पड़ता है, लोक में वह अच्छा नहीं कहलाता.... प्राप्त को छोड़े और नहीं प्राप्त को प्राप्त करे, वह अच्छा नहीं कहलाता। समझ में आया? **परन्तु आप वर्तमान के सुखों को छोड़कर भविष्य के सुख प्राप्त करने की इच्छा से....** भावना से **उद्योग करते हैं,....** पूर्णानन्द की प्राप्ति का प्रयत्न आपको है। **यह भी विरुद्ध बात है।** यह तो विरुद्ध है। **पर जब इन दोनों बातों का तत्त्वदृष्टि से विचार करते हैं, तब वे दोनों बातें ठीक मालूम होने लगती हैं, जिससे आपकी यह प्रवृत्ति उचित ही ठहरती है।**

यद्यपि पर्यायदृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है,.... पर्यायदृष्टि से पर्याय

अर्थात् अवस्था परिणमनशील वर्तमान स्वभाव, उससे सब पदार्थ का परिवर्तन है। परिवर्तन है। यह सिद्ध ने परिवर्तन संसार का छोड़ा, परिवर्तन किया। **सिद्धों में भी होता है, तथापि द्रव्यदृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप हैं।** वस्तु तो अपरिवर्तनरूप है। **संसार में आने का कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में जड़मूल से नष्ट हो जाता है; इसलिए सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार में वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है।** आप विरुद्ध लगते हो परन्तु आपका सिद्धान्त ही उचित है। दूसरों के नियम—कहे हुए सिद्धान्त, वे सब झूठे हैं।

इसी तरह आपने वर्तमान में क्षणभङ्गुर इन्द्रियजनित सुखों से मोह छोड़ कर सच्चे आत्मसुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि यह प्राणी इन्द्रियजनित सुख में लगा रहता है। वह इन्द्रियजनित सुख को भला माने, वह अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का शत्रु है। समझ में आया? इन्द्रिय के सुख जहर हैं, राग है। ऐसा कहकर भगवान की स्तुति करते हैं। आपने अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त किया और इन्द्रिय सुख को छोड़ दिया। हे प्रभु! आप सामंजस काम किया। भला काम किया। यह हमारे प्रशंसनीय है। मुझे भी अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष, इस इन्द्रिय के सुख के कारणरूप भाव का, भी मुझे अन्दर आदर नहीं है। समझ में आया? इन्द्रिय सुख के कारणरूप शुभभाव का भी सत्कार नहीं है। चिदानन्द भगवान अतीन्द्रिय आनन्दमय प्रभु के सत्कार में मेरी शान्ति और अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति, इन्द्रियसुख का हेयपना है।

इसलिए प्रत्यक्ष के अल्पसुख को छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से यदि परभव में सच्चा सुख प्राप्त होता हो तो उसे कौन प्राप्त नहीं करना चाहेगा? ऐसी वीतरागता के आनन्द के सुख को कौन प्राप्त नहीं करे? **इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है।** टीकाकार में से जरा नित्य और अनियत्य सब लिया है, भाई! है न? सर्वथा नित्य है या सर्वथा एक ही है या सर्वथा अनेक ही है, यह आपने स्वीकार नहीं किया, प्रभु! समझ में आया? यह बोल अपने आ गये न? यह लिखा है, देखो! सर्वथा नित्य एकत्वं इत्यादि एकरूप अवस्था तत् अभावो अनवस्था नित्यं आत्म तत्त्वं। अकेला यह ही है, ऐसा आपने स्वीकार नहीं किया। नित्य भी है, अनित्य भी है, एक भी है,

अनेक भी है, ध्रुव भी है, परिणमता भी है, बदलता भी है, एकरूप भी रहता है। समझ में आया? ऐसे पदार्थ का, वस्तु का स्वभाव आपने प्रकाशित किया और प्राप्त किया, यह आपने समंजस काम किया है। ऐसा कोई दुनिया में दूसरा देव नहीं कर सकता और दूसरे देव ने यह देखा और जाना और देखा नहीं।

आत्मा में उतारें तो आत्मा नित्यानन्द प्रभु अपने आनन्द के सुख की दृष्टि से, इन्द्रिय के सुख का कारण राग को छोड़ देता है। प्रत्यक्ष भाव हो, उसे छोड़ देता है। और जो शक्ति में है, अप्रत्यक्ष है—ऐसे चैतन्य के आनन्द की दृष्टि करने से उस परमानन्द की प्राप्ति को चाहता है और राग के भाव का आदर नहीं करता। वह सम्यग्दृष्टि चैतन्य का भक्त है और प्रभु आपका वह भक्त है। आपका भक्त हो, उसे भव की भीड़ नहीं रहती। समझ में आया? भवभ्रमण की भीड़, भगवान तेरे भक्त को नहीं रहती। समझ में आया? यह नियमसार में नहीं आता? अरे! तुझे भगवान की भक्ति नहीं। अरे! भवसमुद्र के मध्य में पड़ा है। यह भवभ्रमण में आधार-शरणभूत भगवान, यह उनकी तुझे भक्ति नहीं तो भवसमुद्र के मध्य में गोते खाता है। मगरमच्छ के मुख में है। मध्य समुद्र में मगरमच्छ के मुख में पड़ा है। भगवान की भक्ति नहीं, वह भक्ति व्यवहार और निश्चय दोनों है, हों! समझ में आया? कहा न पहले? कहा न, टोडरमलजी ने कहा न, व्यवहार समकित के पीछे, निश्चय समकित गमनरूप, परिणमनरूप है। इसी प्रकार व्यवहारभक्ति के पीछे निश्चयभक्ति गमन-परिणमनरूप है। उसे व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति साथ में होती है, उसे भक्ति कहा जाता है। अकेले व्यवहार को व्यवहार नहीं कहा जाता।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि प्रभु! आपको यह सब शोभा देता है। दूसरे को यह बात शोभा नहीं देती। ऐसा कहकर नौ गाथा की। लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण कृष्ण १५, बुधवार, दिनांक : २९-८-१९६२
काव्य - १० से १४, प्रवचन नं.-०३

काव्य १०

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्,
उद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः,
किं गृह्यते येन भवानजागः॥

काम जलाया तुमने स्वामी, इसीलिए यह उसकी धूल।
शम्भु रमाई निज शरीर में, होय अधीर मोह में भूल॥
विष्णु परिग्रहयुत सोते हैं, लूटे उन्हें इसी से काम।
तुम निर्ग्रन्थ जागते रहते, तुमसे क्या छीने वह वाम॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (भवता एव) आपके द्वारा ही (स्मरः) काम (सुदग्धः) अच्छी तरह भस्म किया गया है। (यदि नाम शम्भुः) यदि कहें कि महादेव ने भी तो भस्म किया था तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाद में वह (तस्मिन्) उस काम के विषय में (उद्धूलितात्मा) कलङ्कित हो गया था और (विष्णु अपि) विष्णु ने भी (वृन्दोपहतः सन्) वृन्दा-लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित होकर उसके साथ (अशेत) शयन किया था, (येन) लेकिन (भवान् अजाग) आप जागृत रहे हो अर्थात् कामनिद्रा में अचेत नहीं हुए, इसलिए (किं गृह्यते) कामदेव के द्वारा आपकी कौनसी वस्तु ग्रहण की जाती है अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ — हे भगवन्! जगद्विजयी काम को आपने ही भस्म किया था। लोग जो कहा करते हैं कि महादेव ने भस्म किया था, वह ठीक नहीं है क्योंकि बाद में महादेव ने पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था और काम में इतने आसक्त हुए कि अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था। इसी तरह विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी के वशीभूत होकर तरह-तरह की काम चेष्टाएँ की थीं, पर आप हमेशा से आत्मव्रत में लीन रहे तथा काम को इस तरह पछाड़ा कि वह पनप नहीं सका।

काव्य -१० पर प्रवचन

यह एक विषापहार नाम का स्तोत्र भगवान की स्तुति है । वास्तव में तो अन्दर आत्मभगवान की स्तुति गायी है। अन्दर विष-अपहार। विष अर्थात् मिथ्यात्व का जहर, उसका नाश होकर राग-द्वेष-मोह का सर्वथा नाश होकर आत्मा की वीतरागता सम्यक् आचरणपूर्वक वीतरागदशा प्रगट हो, उसका यह स्तोत्र है। सेठी!

नौवीं गाथा में आया। हे नाथ! विद्यमान विषय के सुख प्राप्त, उन्हें छोड़कर, अविद्यमान ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के सुख के आप अभिलाषी हुए। अर्थात् अनन्त आनन्द जो आत्मा में था, उसे आपने प्रगट किया। ऐसा मुझे विश्वास आता है। देखो! यह देव की पहिचान करे, वह अपनी पहिचान करता है, ऐसा यहाँ चलता है। आपने संसार के सुख की इच्छा की झाँख भी नहीं की। मिलने पर भी छोड़े। और भगवान आत्मा का आनन्द तो अव्यक्त है। बाह्य देखने में नहीं आता, उसे आपने प्रगट किया। अनन्त आनन्दस्वरूप प्रभु में से प्रगट करके अतीन्द्रिय आनन्द के स्वरूप में एकाकार हुए। प्रभु! आप ही पुरुषोत्तम पुरुष हो। ऐसा कहकर नौवें में विरोधाभास अलंकार की दो-तीन बातें कीं।

दसवीं।

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्,
उद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः,
किं गृह्यते येन भवानजागः॥

इसका हिन्दी।

काम जलाया तुमने स्वामी, इसीलिए यह उसकी धूल।
शम्भु रमाई निज शरीर में, होय अधीर मोह में भूल॥
विष्णु परिग्रहयुत सोते हैं, लूटे उन्हें इसी से काम।
तुम निर्ग्रन्थ जागते रहते, तुमसे क्या छीने वह वाम॥

भक्तामर में भी आता है न एक स्तुति में। हे भगवान! '**मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा**'। मैंने दूसरे अन्य देवों को पहले से देख लिया। आपके स्वरूप का भान होने पर अब उसकी हमें कोई इच्छा नहीं रही। पहले अच्छा हुआ कि सब देख लिये। '**हरिहरादय एव दृष्टा**' कहा है न उसमें? परन्तु तुम्हें देखने पर यह बात कहीं अन्यत्र नहीं है। देखो! यह देव की पहिचान भी अनन्त काल में नहीं की। बड़ा विवाद अभी यह इसका अभी उठा है, लो! देव का ही उठा। देवशक्ति।

अहो सर्वज्ञपद! हे भगवान! सर्वज्ञपद तेरी चीज़। श्रीमद् ने कहा है न? हे भगवान! मैं भूल गया। तुम्हारे कहे हुए तत्त्वों का मैंने विचार किया नहीं। तुम्हारे कहे हुए एक सेकेण्ड असंख्य भाग में अहो! जिसकी पूर्ण सम्पदा फलकर फूल गयी है। पूर्णानन्द के साथ सर्वज्ञपद। ऐसे पद की जिसे अन्तर में रागरहित, निमित्तरहित ऐसी पूर्ण पदवी (प्रगट हुई)। अहो! आत्मा की मूल चीज़ ही यह है। आचार्य तो कहते हैं न प्रवचनसार में? कि अरे! ज्ञान की पूर्णता में पूर्ण न ज्ञात हो तो वह दिव्यज्ञान किसका? समझ में आया?

हे भगवान! आपका अतीन्द्रिय ज्ञान पूर्णानन्द ज्ञान, वह ज्ञान! तीन काल-तीन लोक को, समय, समय, समय का भाव पकड़कर जाने। भेद '**सर्वभावांतरच्छिदे**'। यह पहले ही कलश में कहा था। '**सर्वभावांतर**'। अपना स्वभाव और दूसरे सबको प्रभु! यह ज्ञान न देखे, ज्ञान न जाने, अनन्त पदार्थ को ज्ञान एक समय में न पहुँचे और ज्ञेय उसे एक समय में अपना पूरा स्वरूप क्या है, उसे अर्पित न करे, तो प्रभु! वह ज्ञान किसे कहना? समझ में आया? इस सर्वज्ञपद का ही बड़ा विवाद उठा। वाडीभाई! एक समय में केवलज्ञानी प्रभु, आहाहा! उनकी आज्ञा के बाहर, तीन काल-तीन लोक में कुछ नहीं होता। उनके कारण से नहीं, परन्तु जो उन्होंने देखा, उससे बाहर कुछ नहीं होता। ऐसा सर्वज्ञपद जिसके ज्ञान में, हृदय में, भाव में बैठा, उसे सर्वज्ञ को जो पद मिला, उस पद की प्राप्ति का वह अभिलाषी, उस पद को अल्प काल में प्राप्त करेगा। समझ में आया? परन्तु यह पहिचान कहनेमात्र नहीं, उसके ज्ञान में यह बात बैठनी चाहिए। तब उसे....

प्रवचनसार में भी कहा न पहले? प्रभु! मैं वन्दन करनेवाला कौन? और आप

वन्द्य कौन ? दोनों का मुझे भान है। पहले में नहीं ? शुरुआत में। मैं कौन ? मैं कौन ? प्रभु ! मैं तो ज्ञानदर्शन सम्पन्न ऐसा आत्मा। आप कौन ? कि आप पूर्ण पर्याय को ज्ञान, दर्शन और आनन्द की प्राप्ति ऐसे आप पूर्ण। वे आप वन्द्य हो और मैं हूँ आपका वन्दक। मैं पहिचानकर कहता हूँ, प्रभु ! ऐसा का ऐसा बिना भान के यह भगवान अरिहन्त है और यह ज्ञानी है और पूर्ण ज्ञानी है, ऐसा नहीं। मेरे ख्याल में बात आयी है। मैं जब ज्ञान-दर्शन सम्पन्न ऐसा मैं। मैं अर्थात् आत्मा अर्थात् ज्ञान-दर्शन सम्पन्न। ऐसे भानवाला और उसमें स्थिरतावाला ऐसा मैं आत्मा। इतनी दशा में मेरा ज्ञान-दर्शन इतना उघड़ा है। तो प्रभु आपकी दशा पूर्ण उघड़ी है, ऐसे मुझसे शक्ति से अधिक, पर्याय में शक्ति से अधिक और ऐसे ज्ञान के माहात्म्य के कारण, ऐसे ज्ञान की प्राप्ति के कारण, प्रभु ! मैं आपको वन्दन करता हूँ। समझ में आया ? ऐसा देव प्रभु ! तेरे जैसा जगत में दूसरा कोई देव देखा नहीं। कहते हैं। लो !

हे प्रभु ! आपके द्वारा ही काम अच्छी तरह भस्म किया गया है। क्या कहते हैं ? काम अर्थात् इच्छा। यह आयी है न गाथा उसमें ? श्रुत परिचित अनुभूता काम-भोग की कथा। वह काम की वार्ता आपने नष्ट कर दी है। वार्ता अर्थात् भाव। समझ में आया ? इच्छा का कर्तृत्व मात्र, इच्छा का भोक्तृत्व मात्र आपने नष्ट कर दिया है। और आप वीतराग विज्ञानघन की दशा को प्राप्त हुए हैं। वह **अच्छी तरह भस्म किया गया है। यदि कहें कि महादेव ने भी तो भस्म किया था....** अन्य में आता है न ? उसे महादेव कहते हैं न ? महादेव। भगवान भी महा दिव्य शक्ति के धनी महादेव और वह भी महादेव। तो कहते हैं कि **वह कहना ठीक नहीं,....** प्रभु ! आपने भस्म की, उसकी उसने राख लपेटी है। समझ में आया ?

महादेव ने भी तो भस्म किया था तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाद में वह उस काम के विषय में कलंकित हो गया था.... आपने भस्म किया। उसमें यह कहते हैं कि वह राख लपेटते हैं न, उस काम को जला दिया था। यह उसकी राख लपेटी है। भगवान ने जलाया था, उसकी राख महादेव ने लपेटी है। प्रभु ! तू महादेव ! आहाहा ! पूर्णानन्द की प्राप्ति द्वारा कामविजय हो गये। आपने काम को विजय किया है। अनादि

काल का काम जो अहंकार में चढ़ा कि बड़े-बड़े मानधाताओं को मैंने गिराया है। उसे आपने विजय किया, प्रभु! मैं पहिचानकर आपकी भक्ति करता हूँ।

कहते हैं कि वह **काम के विषय में कलङ्कित हो गया था और विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित होकर....** लक्ष्मी के साथ की बात आती है न। **शयन किया था....** नहीं? समुद्र में आता है न? शेषनाग में सोते हैं और लक्ष्मी पैर दबाती है। आता है या नहीं? कहते हैं कि प्रभु! वह भी परिग्रहवन्त है। वृन्दा अर्थात् लक्ष्मी अथवा वृन्दा अर्थात् परिग्रह। नीचे है भाई। ***'वृन्द—स्त्री, पुत्रादि समस्त परिग्रह समूह से पीड़ित।'*** स्त्री थी, सब था उन्हें। प्रभु! वह परिग्रहवाला था। वह विष्णु भले नाम धरावे परन्तु व्यापक सर्वज्ञपद उनके पास नहीं था। प्रभु! वह महादेव? कि वह महादेव नहीं। तुम महादेव। उन्होंने काम को जीता? कहते हैं, नहीं, नहीं; वह भी पत्नीवश हो गये। आप तो कामदेव को जीतकर कामदेव फिर न फाव्यो, इसलिए आप पर पुष्पवृष्टि की। समझ में आया? उसने फूल बरसाये कि हे नाथ! पूर्णानन्द की प्राप्ति जगत में काम को नहीं जीता उसे आपने पूर्ण जीता है। और पूर्णानन्द की प्राप्ति में आप मौज मनाते हो।

ऐसे वृन्दा। विष्णु को भी बाह्य परिग्रह का वृन्द अर्थात् समूह है। प्रभु! आप तो परिग्रहरहित हो। एक विकल्प का परिग्रह नहीं। ऐसी आपकी निर्ग्रन्थदशा है। उसमें निर्ग्रन्थपना बतलाना है। निर्ग्रन्थदशा। आहाहा! निर्ग्रन्थ तो छठवें गुणस्थान से होता है परन्तु अभी विकल्प का अंश जरा बाकी है। परन्तु आप तो प्रभु पूर्ण निर्ग्रन्थ हो, (उसका) हमें भरोसा हो गया है। आपने एक विकल्पमात्र दुनिया का अच्छा करूँ या बुरा हो, न हो, ऐसी इच्छा ही आपको नहीं है। आपका सर्वज्ञपद यह पड़ा है। समझ में आया?

एक स्तुति में आता है न? अपने नहीं? ऐसा कहीं आता है। आपने मार्ग कहा परन्तु शासन का फल कैसे आयेगा, यह आपने देखा नहीं। 'स्वयंभू स्तोत्र' में आता है। क्या कहलाता है वह? 'समन्तभद्र' 'समन्तभद्राचार्य'। हे नाथ! आपकी वाणी निकली, ऐसा कहकर कहते हैं कि आपको इच्छा नहीं थी। मूल तो ऐसा कहना है। इच्छा बिना वाणी निकली। मोक्षमार्ग प्रपात गिरा। लोग समझे। परन्तु उसमें कौन समझे और कितने प्राप्त हुए, यह आपने नहीं देखा। अर्थात् यह इच्छा नहीं की। ज्ञान में आ गया है कि इतने

ऐसे समझेंगे और इतने नहीं समझेंगे। परन्तु आपने इच्छा नहीं की। इतना उपदेश....

एक दिन में चौबीस घड़ी। छह घड़ी सवेरे, छह घड़ी दोपहर में, छह घड़ी सायंकाल और छह घड़ी रात्रि में। चौबीस घड़ी का उपदेश आपका दिन और रात्रि (में आया)। रात्रि में भी एक बार कहने में आता है। तथापि उसका फल कैसे आया? आप तो ज्ञातादृष्टा हो। वीतराग हो। फल आकर सन्तोष नहीं। न समझे उसके प्रति आपको द्वेष नहीं। इसलिए आप ही वास्तविक देव और सर्वज्ञ हो। ऐसे सर्वज्ञ का मैं भक्त और दास हूँ। दूसरे देव का मैं दास नहीं हूँ।

'भवान्' आप जागृत रहे हो.... आप जागृत रहे। **कामनिद्रा में अचेत नहीं हुए....** कामनिद्रा से अचेत। अचेत अर्थात् भान बिना के हुए, ऐसा हुआ नहीं। **कामदेव के द्वारा आपकी कौनसी वस्तु ग्रहण की जाती है अर्थात् कोई भी नहीं।** काम ही—इच्छा ही आपको नहीं होती।

भावार्थ — हे भगवन्! जगद्विजयी काम को आपने.... देखो! जगतविजय काम। पूरी दुनिया को जिसने विजय किया है। शास्त्र में आता है न भाई! अपने नहीं? समयसार में। आस्रव को अहंकार हुआ है। कलश में (आता है)। अमृतचन्द्राचार्य (कृत कलश)। आस्रव—पुण्य और पाप के विकल्प को, आस्रव को अहंकार (हुआ है) कि मुझसे कोई जीते नहीं। मैंने सबको हरा दिये हैं। बड़े-बड़े मानधाता। नौवें ग्रैवेयक में गया तो भी आस्रव में लाभ है, ऐसी मान्यता करके मैंने उसे हरा दिया है। समझ में आया? उसे वापस संवर ने उड़ाया। अनादि काल का बड़ा योद्धा, नौवें ग्रैवेयक में गया, ऐसा दिगम्बर साधु, परन्तु अन्त में अन्तर में आस्रव में रुक गया। इच्छा के विकल्प की वृत्ति मुझे हितकर है, वह लाभदायक है, उसमें रुका। प्रभु! परन्तु संवर ने उसे जीत लिया। समझ में आया? वह संवर प्रभु! आपने बताया हुआ है। संवर और निर्जरा ऐसा जो मोक्ष का मार्ग आपने बतलाया तो आप अत्यन्त निर्ग्रन्थ हो और दूसरे को निर्ग्रन्थ कराने का आपका उपदेश है।

लोग जो कहा करते हैं कि महादेव ने भस्म किया था, वह ठीक नहीं है क्योंकि बाद में महादेव ने पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था

और काम में इतने आसक्त हुए कि अपना आधा शरीर स्त्रीरूप कर लिया था। इसी तरह विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी के वशीभूत होकर तरह-तरह की काम चेष्टाएँ की थीं, पर आप हमेशा से आत्मव्रत में लीन रहे.... आत्मा में लपेट होकर वीतरागपने में लीन रहे। यह मैंने बराबर जाना है कि आप सर्वज्ञ और वीतराग हो। समझ में आया?

तथा काम को इस तरह पछाड़ा कि वह पनप नहीं सका। पनप नहीं सका। क्या है? उठ नहीं सका। पछाड़ मारा कि उठ नहीं सका। श्रीकृष्ण ने किया था न जैसे उसे—किसे? जरासंघ के सामने वह उसका दामाद। कंस-कंस। कंस को ऐसे चोटी पकड़कर पछाड़ा। मार पछाड़ ऐसे करके एकदम। इसी प्रकार हे भगवान! इसे पछाड़ा है। आता है न। पहले तो उनका रूप तो साधारण था न अभी तो। ग्वाले के यहाँ लालन-पालन हुआ था। लंगोटी-बंगोटी बराबर कपड़े पहने थे। उनके सब कुटुम्बी इकट्ठे हुए। क्या होगा? जोर करके उसको पकड़कर.... कृष्ण है न। कर्म कृषे सो कृष्ण कहिये। विकार के भाव को कसकर नाश करे, उसे कृष्ण कहा जाता है। हे भगवान! आप ही कृष्ण हो। वास्तविक केवलज्ञान पाकर विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक आप प्रगट हुए हो। यह विष्णु सर्वव्यापक कहते हैं, परन्तु परिग्रह में पकड़ गये हैं, ऐसा कहते हैं। परिग्रह में पकड़ाकर ज्ञान की पूर्ण दशा उसने प्रगट नहीं की। यह दसवीं गाथा (हुई)।

काव्य ११

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा,
तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।
स्वतोम्बुराशेर्महिमा न देव!
स्तोकापवादेन जलाशयस्य॥

और देव हों चाहे जैसे, पापसहित अथवा निष्पाप।
उनके दोष दिखाने से ही, गुणी कहे नहिं जाते आप॥
जैसे स्वयं सरितपति की अति, महिमा बड़ी दिखाती है।
जलाशयों के लघु कहने से, वह न कहीं बढ़ जाती है॥

अन्वयार्थ — (वा) अथवा (देव) हे देव! (स) वह ब्रह्मादि देवों का समूह (नीरजाः) पापरहित (स्यात्) हो और (अपरः) दूसरा देव (अघवान् स्यात्) पापसहित हो, इस तरह (तद्दोषकीर्त्या एव) उनके दोषों के वर्णन करनेमात्र से ही (ते) आपका (गुणित्वम् न) गुणीपना नहीं है। (अम्बुराशेः) समुद्र की (महिमा) महिमा (स्वतः 'स्यात्') स्वभाव से ही होती है; (जलाशयस्य स्तोकापवादेन न) 'यह छोटा है' — इस तरह तालाब आदि की निन्दा करने से नहीं होती।

भावार्थ — हे भगवन्! दूसरे के दोष बतलाकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते क्योंकि आप स्वभाव से ही गुणी हैं। सरोवर को छोटा कह देनेमात्र से समुद्र की विशालता सिद्ध नहीं होती किन्तु विशालता उसका स्वभाव है; इसलिए वह विशाल-बड़ा कहलाता है॥ ११॥

काव्य - ११ पर प्रवचन

ग्यारहवीं।

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा,
तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।
स्वतोम्बुराशेर्महिमा न देव!
स्तोकापवादेन जलाशयस्य॥

एक तो सामने भगवान खड़े हैं और कन्धा पकड़कर स्तुति करते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भाई कहते हैं न? क्या कहलाता है? समन्तभद्राचार्य! मानों गिरी-गुफा में से ऐसे निकले हों, भगवान को (कहते हैं), खड़े रहो, प्रभु! मैं तुम्हें पहिचानकर स्तुति करनेवाला हूँ। दूसरे की तरह अन्ध और अनजान मैं स्तुति करनेवाला नहीं। ऐसे कन्धा पकड़कर खड़े रखा है। भक्ति का उछाला है न। उल्लास... उल्लास। उसी प्रकार यहाँ मानो, हे प्रभु!

और देव हों चाहे जैसे, पापसहित अथवा निष्पाप।
उनके दोष दिखाने से ही, गुणी कहे नहिं जाते आप॥

जैसे स्वयं सरितपति की अति, महिमा बड़ी दिखाती है।
जलाशयों के लघु कहने से, वह न कही बढ़ जाती है॥

भो देव! हे प्रभु! **वह ब्रह्मादि देवों का समूह पापरहित हो....** पापरहित हो **और दूसरा देव पापसहित हो,....** कोई पापरहित हो और कोई पापसहित हो। **इस तरह उनके दोषों के वर्णन करनेमात्र से ही आपका गुणीसहितता नहीं है।** दूसरे की अपेक्षा रखकर आपकी गुणसहितता नहीं है। समझ में आया? पहले श्लोक में ऐसा लिया। प्रभु! हे चेतनप्रभु! काम की बात। यह तेरी जिसने अन्तर्दृष्टि की, उसे इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती। जिसने चिदानन्द भगवान आत्मा पर दृष्टि की, (उसे) इच्छा ही नहीं होती, इच्छा ही नहीं होती। ऐसे इच्छा का नाश करनेवाले हे भगवान! चिदानन्द सामान्य चैतन्यप्रभु, वह तुझमें ताकत (रही हुई है)। ऐसी ताकत दूसरे में पर्याय में भी है नहीं। इच्छा का नाश करके। पूर्णानन्द की दृष्टि चैतन्यप्रभु की की, ऐसी ताकत कि चौरासी लाख के भव के कारण को जलाकर भस्म करने की ताकत प्रभु चैतन्य महाप्रभु में है। चैतन्य महाप्रभु अर्थात् ध्रुव! ध्रुव धातु। ज्ञायकभाव में वह ताकत है। इसलिए उसने काम को जीता और काम को जीतने की ताकत द्रव्यस्वभाव में है।

अज्ञानी, जिसकी पर्यायदृष्टि है, जिसकी रागदृष्टि है, जिसकी विकल्प पर दृष्टि है, वह सब हम कुछ देवपना करके आगे बढ़ना चाहते हैं, ऐसा कहते हैं, परन्तु प्रभु! यह दिव्य शक्ति को प्राप्त करनेवाले नहीं हैं। चौरासी लाख में भटकनेवाले हैं।

यहाँ यह कहा, प्रभु! दूसरे के गुण-दोष देखकर आपकी स्तुति करना, आपको उसके साथ तुलना में रखना कि इनके दोष हैं और इन दोषरहित कोई कितने ही हैं, ऐसा करके आपकी महिमा करना, वह **आपका गुणीपना सिद्ध नहीं....** (करता)। वह आपके गुण का मान नहीं है। वह तो सहज स्वभाव से आपके गुण माहात्म्य गा रहे हैं। हे देव! **समुद्र की महिमा स्वभाव से ही होती है;....** समुद्र की महिमा, वह तालाब से बड़ा है, वह कुएँ से बड़ा है, वह सरोवर से बड़ा समुद्र है, इस समुद्र से कोई कुँआ, तालाब बड़ा नहीं हो सकता। वे सब छोटे हैं। इसलिए समुद्र की महिमा नहीं है। समझ में आया? समुद्र की महिमा समुद्र के सहज स्वभाव से है। इसी प्रकार हे नाथ! दूसरे

देव के दोष-गुण को तोलकर आपके गुण का बहुमान करना, इस प्रकार वस्तु के स्वभाव में नहीं है। अचिन्त्य गुण का निधान आपने प्रगट किया है, वह सहज स्वभाव की ही महिमा आपमें है। दूसरे के साथ मिलानकर महिमा करना, ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। समझ में आया?

'यह छोटा है'—इस तरह तालाब आदि की निन्दा करने से नहीं होती। समुद्र की महिमा। तालाब छोटा, कुँआ छोटा, यह गड्डा छोटा, समुद्र बड़ा—ऐसी महिमा नहीं है। वह तो समुद्र सहज स्वभाव से उछलकर भर रहा है और ज्वार जिसकी पर्याय में आता है अर्थात् किनारे। उसी प्रकार भगवान तेरी महिमा सर्वज्ञस्वभाव से भरपूर तू, पर्याय में ज्वार चला ही आता है। सहज स्वभाव से तेरी महिमा है। दूसरे के साथ मिलान करके और महिमा गायें, ऐसा तेरे साथ मिलान खाये ऐसा नहीं है। समझ में आया? देखो! यह देव की भक्ति के भक्त! भक्तराज। भक्त में राज अर्थात् शोभावन्त। सम्यग्दृष्टि भगवान के वास्तविक भक्त हैं। दूसरे कोई वास्तविक भक्त नहीं हैं। कोई वास्तव में हो नहीं सकते। ग्यारह हुई न?

भावार्थ :- हे भगवन्! दूसरे के दोष बतलाकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते.... कहाँ गुण की बेहदता! आहाहा! एक-एक पर्याय परिपूर्ण। अनन्त-अनन्त जिसकी महिमा। प्रभु! उसकी महिमा तो सहज स्वभाव से है। वह तो गुण का परिणमन सहज स्वभाव हुआ, उसमें उसका है। पर के कारण उसकी अपेक्षा दी नहीं जा सकती। वह निरपेक्ष बताते हैं यह। लो! देवीलालजी कहते हैं, सापेक्ष चलता है सर्वत्र, सापेक्ष चलता है। और यहाँ तुम निरपेक्ष... निरपेक्ष कहते हो। यहाँ तो कहते हैं, दूसरे के दोष से या दोष के टालने से उसकी उपमा (महिमा नहीं है)। वह तो सहज निरपेक्ष भगवान सर्वज्ञ परमात्मा निरपेक्ष से शोभ रहे हैं। दूसरे की अपेक्षा रखकर उनका बहुमान हो, ऐसा है नहीं। सहज निर्मलानन्द प्रभु निरपेक्ष है। विकार भी जहाँ पर की अपेक्षा बिना निश्चय से होता है, उसे भी जहाँ पर की अपेक्षा नहीं। तो निर्मलानन्द प्रभु परमात्मदशा निर्मल निर्मल। उस पर्याय का कारण और कार्य पर्याय में। उस पर्याय का कार्य और कारण पर्याय में। ऐसी उसकी महिमा, उसे दूसरे के साथ तुलना की जा सके, ऐसी नहीं है। कहो, समझ में आया?

दूसरे के दोष बतलाकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते क्योंकि आप स्वभाव से ही गुणी हैं। स्वभाव सहज शक्ति में से परिणति प्रगट की है। अर्थात् पर के आश्रय से नहीं कि जो परिणति अब चली जाये। **सरोवर को छोटा कह देनेमात्र से समुद्र की विशालता सिद्ध नहीं होती किन्तु विशालता उसका स्वभाव है; इसलिए वह विशाल-बड़ा कहलाता है।** उसी प्रकार भगवान आत्मा ऐसा कुछ शुभभाव किये और बड़ा स्वर्ग मिला और ऐसा मिला, इससे उसकी महिमा नहीं है। यह इन्द्रपद मिला और इससे यह पद मिला और इससे यह (मिला), हजारों-लाखों मनुष्य खम्मा... खम्मा... करे, उसके कारण प्रभु! तेरी महिमा नहीं है। तेरी महिमा तो निर्मल शुद्ध चैतन्य! एक अंश जहाँ प्रगट करे, वहाँ इन्द्र के सुख तुच्छ जैसे लगे। ऐसी महिमा प्रभु चैतन्य! तेरे अंश की परिणति में है। उसे दूसरे के साथ मिलान नहीं किया जा सकता। समझ में आया? यह ग्यारहवीं कही।

काव्य १२

कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं,
नयत्यमुं सा च परस्परस्य।
त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ,
जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः॥

कर्मस्थिति को जीव निरन्तर, विविध थलों में पहुँचाता।
और कर्म इन जग जीवों को, सब गतियों में ले जाता॥
यों नोका-नाविक के जैसे, इस गहरे भवसागर में।
जीव-कर्म के नेता हो प्रभु, पार करो कर कृपा हमें॥

अन्वयार्थ — (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्रदेव! (जन्तुः) जीव (कर्मस्थितिम्) कर्मों की स्थिति को (अनेकभूमिम्) अनेक जगह (नयति) ले जाता है (च) और (सा) वह कर्मों की स्थिति (अमुम्) उस जीव को (अनेक-भूमिम्) अनेक जगह ले जाती है, लेकिन (त्वम्) आपने (भवाब्धौ) संसाररूप समुद्र में (नौनाविकयोः इव) नाव

और खेवटिया की तरह (तयोः) उन दोनों में (हि) निश्चय से (परस्परस्य) एक दूसरे का (नेतृभावम्) नेतृत्व (आख्यः) कहा है।

भावार्थ — सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि जीव अपने भले-बुरे भावों से जिन कर्मों को बाँधता है, वे कर्म तब तक उसका साथ नहीं छोड़ते, जब तक वे फल देकर खिर नहीं जाते। इस बीच में जीव जन्म-मरणकर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि जीव, कर्मों को अनेक जगह ले जाता है और जीव का जन्म-मरणकर जहाँ-तहाँ पैदा होना, आयु आदि कर्मों की सहायता के बिना नहीं होता। इसलिए कहा गया है कि कर्म भी जीव को चारों गतियों में जहाँ-तहाँ ले जाते हैं। हे भगवन्! आपने इन दोनों में परस्पर का नेतृत्व उस तरह कहा है, जिस तरह कि समुद्र में पड़े हुए जहाज और खेवटिया में हुआ करता है॥ १२॥

काव्य - १२ पर प्रवचन

बारहवीं।

कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं,
नयत्यमुं सा च परस्परस्य।
त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ,
जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः॥

कर्मस्थिति को जीव निरन्तर, विविध थलों में पहुँचाता।
और कर्म इन जग जीवों को, सब गतियों में ले जाता॥
यों नोका-नाविक के जैसे, इस गहरे भवसागर में।
जीव-कर्म के नेता हो प्रभु, पार करो कर कृपा हमें॥

देखो! इसमें हिन्दी आता है थोड़ा-थोड़ा भाई! इस स्तुति में। वह यह कितने ही नहीं समझते।

हे जिनेन्द्र! पाठ में जिनेन्द्र (शब्द) पड़ा है न, वहाँ से उठाया है। परन्तु शुरुआत

अन्वयार्थ में ऐसे की है कि **जीव कर्मों की स्थिति को अनेक जगह ले जाता है....** निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं। वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध प्रभु आपके स्वभाव में नहीं है। चैतन्य महाप्रभु में निमित्त-निमित्त सम्बन्ध कैसा? सम्यग्दृष्टि को दृष्टि में से निमित्त-निमित्त सम्बन्ध उड़ जाती है। समझ में आया? चैतन्य भगवान की जहाँ शुद्ध चैतन्य की दृष्टि हुई, उसे यह विकार का निमित्त यह और निमित्त में नैमित्तिक यह, वह दृष्टि चैतन्यप्रभु की होने पर उड़ जाता है। परन्तु अनादि काल की इस पर्यायदृष्टि में **कर्मों की स्थिति को अनेक जगह ले जाता है....** कौन? जीव। कर्म की स्थिति जो बाँधी है न? उसके कारण से कर्म को भी साथ में निमित्तरूप से ले जाता है। **अनेक जगह ले जाता है और वह कर्मों की स्थिति उस जीव को अनेक जगह ले जाती है,....** वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध उसका है, इस जाति का। **उस जीव को अनेक जगह ले जाती है,....**

इस तरह हे जिनेन्द्रदेव! आपने संसाररूप समुद्र में नाव और खेवटिया की तरह उन दोनों में.... नाव और खेवटिया। यह नाव ले जाये खेवटिया को और खेवटिया ले जाये नाव को। क्या कहा? खेवटिया क्या? उसमें बैठनेवाला। बैठनेवाला ले जाये नाव को। हाँकता है न ऐसे खलासी बड़ा। उस खलासी को ले जाती है नाव और नाव को ले जाता है खलासी। इसी प्रकार भगवान कर्म की स्थिति को निमित्तरूप से जीव होता है और जीव के विकार में निमित्तरूप कर्म होता है। ऐसा खलासी और दोनों पारस्परिक जैसे जाते हैं वैसे दो के समूह में उस जाति का प्रवाह बहता है।

नाव और खेवटिया की तरह उन दोनों में निश्चय से एक दूसरे का नेतृत्व कहा है। एक-दूसरे का स्वामीपना व्यवहार से कहा जाता है। हे चैतन्य भगवान! आप दोनों के स्वामी नहीं। आप तो दोनों के ज्ञाता-दृष्टा हो। यह सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी इन दोनों के ज्ञाता-दृष्टा हैं, कोई किसी को ले जाये, ऐसा कुछ है नहीं। दृष्टान्त एक दिया है न? उसमें दिया है या नहीं? यह चक्की चलती है न चक्की? मक्खी तो बैठी है वहाँ की वहीं। चक्की के ऊपर बैठी हो न मक्खी? पाट चले तो मक्खी तो वहाँ की वहाँ बैठी है। उसी प्रकार ज्ञायकस्वरूप चैतन्य प्रभु आत्मा, चाहे जितने विकल्प की गति

उसे हो, भगवान चैतन्य ज्योति तो ऐसा का ऐसा बैठा है। समझ में आया? यह दिया है उसमें, किसमें? धर्मदास (क्षुल्लक)। सम्यग्ज्ञानदीपिका, सम्यग्ज्ञानदीपिका में दिया है। प्रभु! मक्खी तो वहाँ की वहाँ बैठी है, हों! वह पाट चले, इसलिए चलती है, ऐसा दिखता है। इतना निश्चय बतलाना है न? उसी प्रकार चैतन्य ज्ञायक ज्योति प्रभु जो स्वभाव से है, वह स्वभाव से है। उस पर्याय में राग और निमित्त के कारण गतिपना दिखता है। वस्तु के स्वरूप में वह गति और राग-द्वेष आदि है नहीं। वह तो प्रभु मक्खी की भाँति जहाँ बैठा हो, वहाँ ही बैठा है।

भावार्थ :- सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि जीव अपने भले-बुरे भावों से जिन कर्मों को बाँधता है,.... निमित्तरूप से। **वे कर्म तब तक उसका साथ नहीं छोड़ते, जब तक वे फल देकर खिर नहीं जाते।** निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है न? **इस बीच में जीव जन्म-मरणकर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है।** यह लकड़ी। यदि इसमें न समझे न तो इसमें विपरीतता घुस जाए ऐसा है। आता है न यह समयसार में? जयसेनाचार्य ने नहीं कहा? कर्म बलवान, कर्म का जोर। है बहुत जगह दो-चार-पाँच में। कर्म का जोर। देखो, इसमें लिखा। उसका एकान्त करते हैं, ऐसा कहते हैं, भाई! ऐसा लिखते हैं और उसका अर्थ एकान्त करते हैं। अरे! सुन न अब। कर्म का जोर तो भावकर्म का पर्याय में जोर है, इसलिए निमित्त में है, ऐसा ईश्वरनय से स्वयं आरोप करके कहते हैं। जोर कैसा आत्मा में? समझ में आया? अपनी विकार की वृत्ति का जोर है। स्वभाव में है नहीं। इसलिए निमित्त में आरोप करके, पराधीन होकर ईश्वरनय से तू तेरे कारण जोर है, ऐसा ज्ञानी ज्ञान में जानने के लिये वर्णन करते हैं। समझ में आया? मेरे चैतन्य में विकार का जोर होगा? तीन काल में होगा? वहाँ तो विकार का अभाव करने का अन्दर जोर पड़ा है। फब्बारा फूटा शीतलता का। वहाँ तो चैतन्य की शीतलता पड़ी है। शान्तरस से स्थित भगवान।

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपने रससौं भर्यो आपनी टेक हौं।
मोहकर्म मम नाहिं नाहिं भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है। (समयसार नाटक - ५०)

हमारे यहाँ विकार कैसा और निमित्त कैसा? यहाँ दोनों तीन काल में हमारे पदार्थ में है ही नहीं, ऐसा जिनेन्द्रदेव को प्रगट हुई दशा पहिचानकर अपनी दृष्टि से अपने चैतन्य के गुणग्राम करता है।

जीव जन्म-मरणकर अनेक स्थानों में पैदा हो जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि जीव, कर्मों को अनेक जगह ले जाता है और जीव का जन्म-मरणकर जहाँ-तहाँ पैदा होना, आयु आदि कर्मों की सहायता के बिना नहीं होता। अर्थात् निमित्त है, ऐसा। **इसलिए कहा गया है कि कर्म भी जीव को चारों गतियों में जहाँ-तहाँ ले जाते हैं।** आत्मद्रव्यस्वभाव नहीं। आत्मस्वभाव में कोई गड़बड़ी होती नहीं। ज्ञाता-दृष्टा भगवान चैतन्यबिम्ब, उसमें कहीं गड़बड़-फड़बड़ है नहीं। जाना या आना, बाँधना या छोड़ना, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है।

हे भगवन्! आपने इन दोनों में परस्पर का नेतृत्व उस तरह कहा है, जिस तरह कि समुद्र में पड़े हुए जहाज और खेवटिया में हुआ करता है। एक-दूसरा का निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। अपनी-अपनी गति से स्वयं काम कर रहे हैं। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहार, हे नाथ! यह व्यवहार आपके नहीं है। आप तो इन तीन काल-तीन लोक के ज्ञाता-दृष्टा से जान रहे हो। मुझमें यह वास्तव में प्रभु! निमित्त-निमित्त का सम्बन्ध मेरी चैतन्यदृष्टि में नहीं है। मेरा चैतन्यस्वभाव ज्ञायक भगवान (उसे) पर के साथ सम्बन्ध कैसा? विकार के साथ सम्बन्ध कैसा आत्मा को? और निमित्त के साथ सम्बन्ध तो है ही नहीं। विकार परद्रव्य और निमित्त तो अत्यन्त पृथक् द्रव्य। उससे अभावस्वभाववाला मेरा आत्मा, यह उसकी स्तुति और भक्ति मैं करता हूँ। १२।

काव्य १३

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्,
धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं,
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः॥

गुण के लिए लोग करते हैं, अस्थि-धारणादिक बहु दोष।
धर्म हेतु पापों में पड़ते, पशु-वधादि को कह निर्दोष॥
सुखहित निज-तन को देते हैं, गिरि-पातादि दुःख में ठेल।
यों जो तव मतबाह्य मूढ़ वे, बालू पेल निकालें तेल॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! जिस प्रकार (बालाः) बालक, (तैलाय) तेल के लिए (सिकतासमूहम्) बालू के समूह को (निपीडयन्ति) पेलते हैं, (स्फुटम्) ठीक उसी प्रकार (अत्वदीयाः) आपके प्रतिकूल चलनेवाले पुरुष (सुखाय) सुख के लिए (दुःखानि) दुःखों को, (गुणाय) गुण के लिए (दोषान्) दोषों को और (धर्माय) धर्म के लिए (पापानि) पापों को (समाचरन्ति) समाचरित करते हैं।

भावार्थ — हे भगवन्! जो आपके शासन में नहीं चलते, उन्हें धार्मिक तत्त्वों का सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता; इसलिए वे अज्ञानियों की तरह उल्टे आचरण करते हैं।

वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदि को प्राप्तकर सुखी होने की इच्छा से तरह-तरह के कायक्लेशकर दुःख उठाते हैं, पर सकाम- तपस्या का कोई फल नहीं होता; इसलिए वे अन्त में भी दुःखी ही रहते हैं। 'हम में शील, शान्ति आदि गुणों का विकास हो' — ऐसी इच्छा रखते हुए भी रति-लम्पटी, क्रोधी आदि देवों की उपासना करते हैं, पर उन देवों की शीलघातक और क्रोधयुक्त क्रियाओं का उन पर बुरा असर पड़ता है, जिससे उनमें गुणों का विकास न होकर दोषों का ही विकास हो जाता है।

इसी प्रकार यज्ञादि धर्म करने की इच्छा से पशु-हिंसा आदि पाप करते हैं, जिससे उल्टा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो! यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियाएँ उन बालकों जैसी हैं, जो तेल पाने की इच्छा से बालू के पुञ्ज को कोल्हू में पेलते हैं।

काव्य - १३ पर प्रवचन

१३ (श्लोक)।

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्,
धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं,
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः॥

गुण के लिए लोग करते हैं, अस्थि-धारणादिक बहु दोष।
धर्म हेतु पापों में पड़ते, पशु-वधादि को कह निर्दोष॥
सुखहित निज-तन को देते हैं, गिरि-पातादि दुःख में ठेल।
यों जो तव मतबाह्य मूढ़ वे, बालू पेल निकालें तेल॥

इसका अर्थ उसमें—भावार्थ में आयेगा। इसमें तो इतना है।

अन्वयार्थ :- हे प्रभु! जिस प्रकार बालक, तेल के लिए बालू के समूह को पेलते हैं,.... ओहोहो! बालक को खबर नहीं कि बालू में तेल होता है। रामचन्द्रजी में आता है न? छह-छह महीने तक लक्ष्मण को उठाकर निकलते हैं। सम्यग्दृष्टि है, हों! अन्दर में विवेकी है। अस्थिरता के राग के .... परद्रव्य कुछ दूसरा ही काम कर रहा है। स्वभाव स्वभाव का काम करता है। छह महीने तक। देव आकर बालू की घाणी लगाता है। बालू डाले तेल निकलता नहीं। तब रामचन्द्रजी कहते हैं ऐ, परन्तु यह तू भूला है। बालू में तेल नहीं निकलता। (देव कहता है) तब तुम यह क्या करते हो? यह मर गया और जीवित होगा अब? यह मर गया वह जीवित होगा? कभी नहीं। अग्नि में कमल बोने गया। अग्नि-अग्नि करके। मूर्ख! अग्नि में कमल नहीं बोया जाता। नहीं उगता। परन्तु तब तुम यह क्या करते हो? समझ में आया? ऐसे दो-तीन दृष्टान्त किये। फिर उसके ख्याल में आया। ओहो! मेरी राग की भूल थी। राग की मेरी भूल थी। दाह संस्कार किया। दाह संस्कार कर दिया।

तेल के लिये बालू पेले। उसी प्रकार भगवान! आपकी दृष्टि के भान बिना इस

शुभ के काम में बालू है। उसमें तेल नहीं निकलता। समझ में आया? इस बालू को पेलकर-राग की क्रिया, पुण्य की क्रिया, विभाव की क्रिया, स्वभाव से विरुद्ध भाव का आचरण। उसे पेल-पेलकर आत्मा का तेल निकालना चाहता है। सेठी! विरुद्ध आचरण करता है। प्रभु! तेरी आज्ञा से। चैतन्य को कहते हैं कि तेरे स्वभाव से विभाव के आचरण करके स्वभाव को प्रगट करना चाहता है, वह बालू पेलकर तेल निकालना चाहता है।

बालक, जैसे तेल के लिए बालू के समूह को पेलते हैं, ठीक उसी प्रकार आपके प्रतिकूल चलनेवाले पुरुष.... आपके प्रतिकूल, आज्ञा से प्रतिकूल, चैतन्यस्वभाव से प्रतिकूल। **सुख के लिए दुःखों को,....** यह वृत्ति है कि मानो सुख की प्राप्ति होगी। राग की प्राप्ति से मानो आत्मा का आनन्द प्राप्त होगा। आपकी आज्ञा से विरुद्ध और आपके मार्ग से विरुद्ध और आत्मा से विरुद्ध। **सुख के लिए दुःखों को, गुण के लिए दोषों को....** शान्ति के लिये राग को सेवन कर शान्ति मिलेगी, प्रभु! यह आपकी आज्ञा नहीं है। आप देव ने यह दिव्य का वर्णन ऐसा नहीं किया है।

और धर्म के लिए पापों को समाचरित करते हैं। लो! पाप का आचरण करे धर्म के लिये। अशुभ से भले बात की। परन्तु वह पाप ही है। पुण्य और पाप वास्तव में निश्चय से आत्मा की शान्ति के घातक, यह उसका पापाचरण करके आत्मा का सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्राप्ति हो, प्रभु! वह तेरे तत्त्व में यह है नहीं। सहज स्वरूप सहज से प्राप्त हो, इसके अतिरिक्त प्राप्त होगा नहीं। देखो, यह.... आता है न उसमें—परमात्मप्रकाश में? नहीं आता? वस्तु स्तवन। भाई! एक आता है। वस्तु स्तवन। रामचन्द्रजी आदि धर्मात्मा गृहस्थाश्रम में वस्तु स्तवन करते थे। भगवान का स्तवन करते और वस्तु का स्तवन करते थे। टीका में ऐसा पाठ है। नेमिदासभाई! किसका गाना? आहाहा! वस्तु का। भले विकल्प से हो। परन्तु वस्तु यह है.... वस्तु यह है। पूर्णानन्द चैतन्य आनन्दघन! ऐसे वस्तु में बसी हुई पवित्रता का पिण्ड! यह उसके गीत प्रभु रामचन्द्रजी आदि श्रावक धर्मात्मा भी गाते थे। उस विकल्प से उन्हें पुण्यानुबन्धी पुण्यबन्ध हो जाता है। परन्तु उस भव में उन्हें छूट जायेगा। पूर्ण शुद्ध चैतन्य पर अनुभव की दृष्टि होने से राग का

आदर नहीं है। वे वस्तु के स्वरूप के गीत गाते हैं। गीत गाते हैं अर्थात् एकाग्र होते-होते, विकल्प से गीत गाये, यह व्यवहार हुआ, निश्चय से एकाग्रता वह गुण के गीत। उस गुण के गीत से केवलज्ञान प्राप्त होगा। समझ में आया? **समाचरित करते हैं।**

भावार्थ :- हे भगवन्! जो आपके शासन में नहीं चलते,.... आपका शासन वीतराग शासन। वीतरागी शिक्षा। अरागी ज्ञान की धारा। ऐसे में **नहीं चलते, उन्हें धार्मिक तत्त्वों का सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता;....** उसे धर्म के तत्त्व जो जड़-चैतन्य, संवर-निर्जरा का भान नहीं होता। देखो! इस प्रकार भी भगवान की स्तुति करके चैतन्य की स्तुति करते हैं। **इसलिए वे अज्ञानियों की तरह...** अज्ञानियों की तरह **उल्टे आचरण करते हैं।** उल्टे आचरण करते हैं, कहाँ मार्ग और कहाँ वस्तु का स्वभाव और उससे उल्टे चलते हैं।

वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदि को प्राप्तकर सुखी होने की इच्छा से तरह-तरह के कायक्लेशकर दुःख उठाते हैं,.... देखो! सब कायक्लेश है आत्मा के भान बिना के। कायक्लेश है या नहीं यह? कहा है या नहीं दीपचन्दजी ने? यह जंगल में ढोर बसे और आत्मा के ज्ञान के भान बिना के और अनुभव बिना के, वे तप में पड़े, वह ढोर जैसे हैं। समझ में आया? वह मोह का भजन करते हैं, प्रभु! आप वीतरागस्वभाव का भजन करता नहीं। मोह को भजता है, माला के दाने फिरते हैं अन्दर। आ हो... आ हो.... आ हो....

पर सकाम- तपस्या का कोई फल नहीं होता;.... यहाँ सकाम लेनी है न इच्छा। इच्छा से कुछ, राग से कुछ मिलेगा। **इसलिए वे अन्त में भी दुःखी ही रहते हैं। 'हम में शील, शान्ति आदि गुणों का विकास हो'....** ऐसा विचार कर **ऐसी इच्छा रखते हुए भी रति-लम्पटी,....** वह रति-लम्पटी, विषय में लम्पट, **क्रोधी....** राग और द्वेष दोनों हो गये। **आदि देवों की उपासना करते हैं,....** राग और द्वेष जिसमें मिले हों, ऐसे देव की सेवा करते हैं। परन्तु वीतराग प्रभु आपकी सेवा नहीं कर सकते।

पर उन देवों की शीलघातक.... वे देव स्वयं शीलघातक **और क्रोधयुक्त क्रियाओं का उन पर बुरा असर पड़ता है,....** असर अर्थात् जिसमें विकारयुक्तपना उसके गुणग्राम

गाये तो उसे विकार के भाव का ही अनुमोदन है। समझ में आया? विकारसहित है, दोषसहित है, उसकी प्रशंसा करता है, इसका अर्थ यह हुआ कि दोष की प्रशंसा करता है। ईश्वर ऐसे कर्ता थे, उसने ऐसा किया, उसने ऐसे किया। यह ऐसे की स्तुति करनेवाला क्रोध और शीलघातक भाव की प्रशंसा करता है। इसका **बुरा असर पड़ता है,....** का अर्थ यह। उसके भाव में बुरा भाव आता है।

जिससे उनमें गुणों का विकास न होकर.... उसके कारण से गुण का विकास होता नहीं। **दोषों का ही विकास हो जाता है।** क्योंकि दोषवान की प्रशंसा से दोष का ही विकास (होता है), टिके और स्थिर हो और बढ़े तथा पुष्टि हो। **इसी प्रकार यज्ञादि धर्म करने की इच्छा से पशु-हिंसा आदि पाप करते हैं,....** यज्ञ आदि करते हैं न? यह व्यवहार से बात.... लेना। **जिससे उल्टा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो! यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियाएँ उन बालकों जैसी हैं,....** समझ में आया? यह अज्ञानी बालक जैसी है। **जो तेल पाने की इच्छा से बालू के पुञ्ज को कोल्हू में पेलते हैं।** लो! मशीन में पेल-पेलकर तेल निकालना चाहता है और फिर, तेल में ढ़ेबरा तलना चाहता है। तेल नहीं निकले, वहाँ ढ़ेबरा कहाँ से तलते थे।

इसी प्रकार हे भगवान! आपकी वीतरागी आज्ञा चैतन्य शुद्ध को आराधना, शुद्ध की सेवा करना, शुद्ध में रमना, शुद्ध को अन्दर से एकाकार को प्रगट करना। यह उसकी दृष्टि की खबर नहीं होती और यह विकार के क्रियाकाण्ड को पेल-पेलकर आत्मा प्रगट करना चाहता है, प्रभु! वे जीव मूढ़ है। समझ में आया? वह आपके भगत नहीं हैं। वे चेतन के भगत नहीं हैं। इसलिए व्यवहार से आपके भी भगत नहीं हैं। १३ हुई।

काव्य १४

विषापहारं मणिमौषधानि,
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति
पर्यायनामानि तवैव तानि॥

विषहारक मणि नाथ तुम्ही हो, तुम ही हो परमौषधि रूप।
तुम ही मन्त्र रसायन भी तुम, तुम ही यन्त्र तन्त्र गुण भूप॥
तुम्हें छोड़कर इन्हें ढूंढते, फिरें वृथा गोते खाते।
नाम तुम्हारे मणि-मन्त्रादिक, अविवेकी समझ नहीं पाते॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (अहो) आश्चर्य है कि लोग (विषापहारम्) विष को दूर करनेवाले (मणिम्) मणि को, (औषधानि) औषधियों को, (मन्त्रम्) मन्त्र को (च) और रसायन को (समुद्दिश्य) उद्देश्य करके (भ्राम्यन्ति) यहाँ-वहाँ घूमते हैं किन्तु (त्वम्) आप ही मणि हैं, औषधि हैं, मन्त्र हैं और रसायन हैं (इति) — ऐसा (स्मरन्ति) स्मरण नहीं करते क्योंकि (तानि) वे मणि आदि (तव एव) आपके ही (पर्यायनामानि) पर्यायवाची शब्द हैं।

भावार्थ — हे भगवन्! जो मनुष्य शुद्ध हृदय से आपका स्मरण करते हैं, उनके विष वगैरह का विकार अपने आप दूर हो जाता है॥ १४॥

कहा जाता है कि एक समय स्तोत्र के रचयिता कविवर धनञ्जय मन्दिर में बैठकर स्तुति पाठ की रचना कर रहे थे; उसी समय उनके पुत्र को सर्प ने डस लिया, तब उनकी पत्नि ने उन्हें मन्दिर से बुलवाया परन्तु वे पूजन-स्तवन छोड़कर नहीं आये तो उनकी पत्नि को अत्यन्त क्रोध आया और क्रोधावेश में वह पुत्र को मन्दिर में डालकर जाने लगी, उसी समय सहज ही कवि ने 'विषापहारं मणिमौषधानि ....आदि' श्लोक की रचना की तो तत्काल उनका पुत्र पुण्य-योग से एवं जिनेन्द्रभक्ति के प्रभाव से उठकर बैठ गया और उसका विष-विकार बिलकुल दूर हो गया।

इस श्लोक में विषापहार शब्द का प्रयोग हुआ है - यही कारण है कि इस स्तोत्र का नाम विषापहार स्तोत्र प्रचलित हुआ।

काव्य - १४ पर प्रवचन

१४वीं। अब विषापहार शब्द आया इसमें।

विषापहारं मणिमौषधानि,
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति
पर्यायनामानि तवैव तानि॥

विषहारक मणि नाथ तुम्ही हो, तुम ही हो परमौषधि रूप।
तुम ही मन्त्र रसायन भी तुम, तुम ही यन्त्र तन्त्र गुण भूप॥
तुम्हें छोड़कर इन्हें ढूंढते, फिरें वृथा गोते खाते।
नाम तुम्हारे मणि-मन्त्रादिक, अविवेकी समझ नहीं पाते॥

लो! इसमें नाम आया विषापहार। है न? जो इस स्तोत्र का नाम है न, उसमें यह आया। वहाँ वह लड़का बैठा था, ऐसा कहते हैं। जहाँ यह १४वीं गाथा चली.... उस लड़के को सर्प काटा था। उसके (धनंजय के) पुत्र को। भगवान के निकट मन्दिर में लाकर डाल दिया। और स्तुति चली अपने ध्यान से। यहाँ जागृत जहाँ हुआ और परिणाम हुए वह बैठा हो गया। देखो! यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध।

भक्तामर में भी आता है या नहीं? हे प्रभु! आपकी भक्ति करनेवाले ऐसे हाथी जहाँ ऐसे लाखों मर गये हों और जहाँ मोती मुक्ताफल निकले हों, उसमें भी आपका भगत जीतकर निकलता है। अन्दर में भी जीतकर निकलता है और बाहर में ऐसा उसके पुण्य का योग मेल खा जाता है। उसे युद्ध-बुद्ध में कोई बाधक नहीं। सिंह दो पैर के मध्य में आ गया हो। भक्तामर में है, है न? उस क्रम का विवाद है वह। क्रम-क्रम। सिंह के दो पैर के मध्य में आया हुआ भी हिरण या मनुष्य, प्रभु! यदि आपकी भक्ति करता हो तो एकदम छूटता है। जिस प्रकार धाणी में से दाना छूटकर एकदम आगे चला जाये (उसी प्रकार) उसके—सिंह के पंजे में से छूट जायेगा। प्रभु! आपकी भक्ति की अचिंत्य कोई महिमा है! समझ में आया? हीराभाई! यह पुण्य उस जाति का हो जाता

है और उस प्रकार का योग होता है। वह अन्दर नहीं होता, यह परमार्थ से अन्दर की पवित्रता प्रगट होती है। उसकी बातें यहाँ गीत गाया जाता है। भक्तामर में तो बहुत लिया है। हाथी, सिंह और बड़ा दावानल सुलगता हो, जलन्धर रोग हो। सब प्रभु! आपकी भक्ति जलन्धर रोग तो यह पेट फटकर जो राग-द्वेष में गया, वह जलन्धर रोग है। इस चैतन्य के स्वभाव के भान द्वारा उस जलन्धर रोग का नाश होता है। और पुण्य का योग हो तो बाहर का भी नाश होता है। सर्प का। इसमें सब बहुत हैं।

आश्चर्य है कि लोग विष को दूर करनेवाले मणि को,.... विष को नाश करनेवाला मणि। मणि। यह मणि ऐसा कि विष को नाश करनेवाला है। आता है न ? औषधा। यह दूसरा। **करनेवाले मणि को, औषधियों को,....** रखते हैं न, यह नहीं सर्पवाले ? क्या कहलाती है वह ? नेवला। सर्प काटा हो तो वह नेवला होता है ऐसा। उसे लोग खोजते हैं, कहते हैं न सर्प का जहर उतारने के लिये। या औषधि को, या मन्त्र को। मन्त्र होता है न सर्प का और अमुक का ? **रसायन को....** रसायन को। और **उद्देश्य करके यहाँ-वहाँ घूमते हैं....** अरे! कल्पवृक्ष को खोजते हैं। कल्पवृक्ष पेड़ कहीं है ? अरे! कामधेनु गाय कहीं है ? उसे खोजते हैं, प्रभु! वन-वन में भटकता अनादि का।

उद्देश्य करके यहाँ-वहाँ घूमते हैं.... 'भ्राम्यन्ति' है न ? **आप ही मणि हैं,....** प्रभु! आपका नाम ही मणि है। जहर को उतारने के लिये मणि आप ही हो प्रभु! समझ में आया ? वीतराग को कहते हैं और आत्मा को कहते हैं, चैतन्यमणि तू ही है। वह अपरनाम है, कहा न उसमें ? पर्यायवाची अर्थात् दूसरे-दूसरे वे तेरे ही नाम हैं। चैतन्यप्रभु! वह तेरे ही नाम दूसरे प्रकार के सब यह पड़े हैं। समझ में आया ? भगवान की भक्ति में भगवान को भी ऐसा कहते हैं और अपने आत्मा को भी कहते हैं कि तेरे नाम में, तेरा नाम ही मणि है, अन्य मणि नहीं। तू ही मणि है।

आप ही औषधि हैं,.... औषध विचार ध्यान। आता है न ? यह विचार। आप ही औषधि हो। पूर्णानन्द प्रभु, आपकी प्रगट दशा वह जिसकी सत्ता में बैठी, जिसके अस्तित्व में बैठी, ऐसा औषध लागू पड़ा कि जन्म-मरण का रोग उसे गया। वह उसकी गाँठ गल गयी जन्म-मरण की। उसे प्रभु! अब रोग रहेगा नहीं और बाहर में भी पुण्य

का उदय हो तो ऐसा प्रसंग बन जाता है। **मन्त्र हैं और रसायन हैं....** रसायन है न? सिद्धरस कहते हैं न? क्या कहते हैं? अन्दर डाला है न यह शब्द कुछ। रसायन अर्थात् सिद्धरस। रस सिद्ध हो गया ऐसा। रसायन अर्थात् रस सिद्ध हो गया हुआ। सिद्ध हो गया हुआ अर्थात् ऐसे पानी हो और मन्त्र कर ऐसा रस सिद्ध हो गया कि जहाँ पत्थर के ऊपर डाले वहाँ सोना होता है। आता है न? किसमें? आत्मावलोकन, क्या कहलाता है? तुम्बीरस। एक व्यक्ति ने तुम्बीरस प्रगट किया उसके भाई ने। ले गया उसके घर में, साहेब रखो यह तुम्बीरस। एकदम गिरा दिया। अब तेरा तुम्बीरस, चैतन्यरस यहाँ है न। उसके लिये तूने राज छोड़ा था? दीक्षा इसके लिये ली थी? कहाँ भ्रमित हो गया इसमें? परन्तु कहे, बड़ा बहुत वर्ष की बहुत मेहनत करके यह तुम्बीरस प्रगट हुआ है। यह सिद्धरस है। सिद्धरस... सिद्धरस। निश्चित हो गया। फूट गया। हाय-हाय! यह तुमने क्या किया? हाय बड़ी पत्थर की शिला पर पेशाब किया, वहाँ एकदम सोना हो गया। अब सुन न! तेरे रसायन और ऐसे ऊपर में वन में भटका। चैतन्य भगवान अन्तर विराजमान परमात्मा परम पुरुषोत्तम पुराण पुरुष। समझ में आया? पुराण पुरुष। अनादि का पुरुष आत्मा है। उसके समीप में जा। तेरे जन्म-मरण का नाश करके। सोने को जंग नहीं लगती, ऐसा भगवान बना देगा। ऐसे सब.... तू त्यागी हुआ और साधु हुआ? वनस्पतियाँ खोजी और उसमें सिद्धरस प्रगट किया। धूल की तूने प्रगट करके। समझ में आया? इसके लिये मुंडाया है? आहाहा!

इसी प्रकार जगत के प्राणी... इच्छा से कुछ मिलेगा और ऐसा करूँगा, पुण्य होगा तो स्वर्ग में जाऊँगा और यह मिलेगी। अब इसके लिये मुँडाया? आत्मा का धर्म करने इसके लिये प्रयत्न किया? वह तो आत्मा के समीप में जाने से सहज ऐसे पुण्य बँध जाये, सहज ऐसे संयोग हो जाये। यह इच्छा नहीं हो सकती। कहते हैं कि प्रभु! आपका नाम मणि, आपका नाम औषधि, आपका नाम मन्त्र, आपका नाम रसायन, आप कल्पवृक्ष, आप कामधेनु। जो कहो, वह आप सब हो।

ऐसा स्मरण नहीं करते क्योंकि वे मणि आदि आपके ही पर्यायवाची शब्द हैं। अन्य-अन्य नाम आपके ही, प्रभु यह है। समझ में आया? यह अलग-अलग नाम यह

सब तेरे हैं। जगत में नाम कहते हैं दूसरे के, वह बात खोटी है।

भावार्थ :- हे भगवन्! जो मनुष्य शुद्ध हृदय से आपका स्मरण करते हैं,.... शुद्ध हृदय से आपका स्मरण करते हैं, उनके विष वगैरह का विकार अपने आप दूर हो जाता है। कहा जाता है कि एक समय.... इसमें डाला इन्होंने। **स्तोत्र के रचयिता धनञ्जय....** कवि। धनंजय कवि। जिसका धन है और जिसे जय है जिसकी। समझ में आया? ऐसे धनंजय कवि के **पुत्र को सर्प ने डस लिया,....** उसको सर्प ने डस लिया। **तब वे अन्य उपचार न कर....** दूसरे उपचार नहीं करके **उसे सीधे ही जिनमन्दिर में ले गये....** बहुत बात में अलग-अलग आता है। कोई कहे वहाँ ले गये। कोई कहे, स्त्री (वहाँ) डाल गयी। ऐसा आता होगा। **और वहाँ विषापहार स्तोत्र रचकर भगवान के सामने पढ़ने लगे....** समझ में आया? एक को सर्प डसा था। परन्तु साधारण होगा। फिर आकर कुछ उपाय नहीं किया और आकर भाई बैठा प्रोषध करके। चढ़ा नहीं। इसलिए लोगों को (ऐसा कि) ओहोहो! परन्तु सहज सर्प भी साधारण होगा न? इसलिए वहाँ जाकर णमो अरिहंताणं.... णमो अरिहंताणं.... णमो अरिहंताणं.... चढ़ा नहीं। ओहोहो! कहाँ गये छोटाभाई नहीं आये? नहीं आते होंगे। उन्हें भी सर्प डसा था।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हीराजी महाराज। णमोकार गिनो भाई, णमोकार गिनो। ऐसा कहा। क्या कहा?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परिबल है। णमोकार अर्थात् आत्मा का स्वभाव! णमोकार अर्थात् णमो अरिहंताणं.... 'अरिहंत' अर्थात् विकार के शत्रुरूप भाव को घात करनेवाला ऐसा चैतन्यप्रभु, वह साक्षात् स्वयं अरिहन्त है। 'सिद्धाणं'। सिद्ध स्वभाव जिसने साधा है, वह साधनेवाला स्वयं ही साधु है। कहा है न उसमें एक बार नहीं? परमात्मपुराण में लिया है, भाई! एक-एक गुण को, एक-एक गुण को व्यापारी, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय घटित किया है। एक-एक गुण को। एक-एक गुण स्वयं क्षत्रिय है। अपने शूरवीरतारूप से अपना काम कर रहा है। दूसरे की सहायता नहीं। प्रभु! एक गुण ही स्वयं... उस गुण

का व्यापार स्वयं स्वतन्त्र कर रहा है, इसलिए उसे व्यापारी कहा। उसकी परिणति का स्वयं परिणति करके स्वयं की सेवा कर रहा है, इसलिए उसे शूद्र कहने में आता है। 'ब्रह्मानन्द ऐसा आत्मा' ब्रह्म आनन्द को लपेटकर पड़ा है, इसलिए गुण को ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण कहने में आता है। ओहोहो! एक-एक परमात्मपुराण है वह। वह दीपचन्दजी ने बनाया है। परमात्मपुराण। उसमें प्रत्येक गुण को चार-चार बोल उतारे हैं। प्रत्येक गुण को। तुम्हारे उस व्यापार में से निकालकर इस व्यापार में जोड़ दिये हैं। धूल का व्यापार करता नहीं, व्यर्थ में उसमें हैरान होकर चला। दु:खी होता है दु:खी.... दु:खी.... यह व्यापार। ओहोहो! प्रभु! तेरे एक-एक गुण का व्यापार। तू बनिया बहुत। बनिया, हों! देख-देखकर काम लेनेवाला। इस ज्ञान में, दर्शन में, आनन्द में, वीर्य में, शान्ति में, अगुरुलघु में एक-एक शक्ति को वैश्यरूप से वर्णन किया, ब्राह्मणरूप से, क्षत्रियरूप से और शूद्ररूप से वर्णन किया है।

इन्हें ऐसा जोर करते हुए अन्दर का। **वहीं जहाँ 'विषापहारं मणिमौषधानि ....आदि' श्लोक को पूरा करते हैं। 'विषापहारं मणिमौषधानि....' त्यों ही पुत्र उठकर बैठ जाता है।** इसी प्रकार आत्मा में सावधानरूप से जहाँ एकाग्र होता है, वहाँ एकदम जागृत होकर आत्मा पुराण पुरुष मैं हूँ, ऐसा जागृत होकर आत्मा स्वयं बोल उठता है। **त्यों ही पुत्र उठकर बैठ जाता है। इसका विष विकार बिल्कुल दूर हो गया। कवि ने स्तोत्र को पूरा किया। इसके पाठ से विषविकार दूर हुआ था। इसलिए उसका नाम विषापहार स्तोत्र प्रचलित किया।** इस नाम से प्रचलित हो गया। चौदहवाँ श्लोक बोलते थे, वहाँ ऐसा हो गया। उसमें आता है न भक्तामर में। अमुक जहाँ स्तवन करते... करते... ताले टूटे एकदम-एकदम। अन्दर के ताले टूटे और बाहर के ताले टूटे। अन्दर में शान्ति.... शान्ति.... शान्ति.... शान्ति.... हो गयी अन्दर। और बाहर में ताले (टूटे)। पुण्य का योग और एकदम टूट गये अन्दर से। ऐसा कोई भगवान का परमात्मा! त्रिलोकनाथ भगवान, जिनकी इन्द्र सेवा करते हैं। हे दक्षिण के स्वामी! और उत्तर के स्वामी! ईशान इन्द्र। दक्षिण का स्वामी शकेन्द्र। वह भी जिनके निकट मुकुट झुकाकर दासानुदास होकर सेवा करता है। ऐसे परमात्मा की भक्ति के करनेवाले को अन्तर की परिणति तो शुद्ध होती है, स्वयं के साधन से। परन्तु उसे बाहर में संयोग अनुकूल सहज

मिल जाते हैं। जहर उतरे क्या ? पूरा जहर चढ़कर ऐसे मानो मर गया हो, ऐसा लगता हो। एकदम जगे। यह अनादि का मर गया है न विकल्प को अपना स्वरूप मानकर। पर को अपना माना, वह तेरा बड़ा मुर्दा तूने कर डाला। वह जहाँ अन्तर चैतन्य की जागृति और श्रद्धा-ज्ञान किये, वह चैतन्य जागृत होकर खड़ा हो गया। यह उसका नाम विषापहार स्तोत्र कहा जाता है। यह १४ गाथा हुई। १५वीं कहेंगे......

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल १, गुरुवार, दिनांक : ३०-८-१९६२
काव्य - १५ से २०, प्रवचन नं.-०४

यह एक विषापहार स्तोत्र भगवान की स्तुति है। धर्म करनेवाले जीव को, जिसे धर्म करना है, उसे किसने धर्म प्ररूपित किया? और सच्चा जाना, ऐसे देव को पहिचाने बिना उसे धर्म होगा नहीं। अरिहन्तदेव कौन है? उनके आत्मा के लक्षण, द्रव्य के, गुण के और पर्याय के जो लक्षण हैं, इस प्रकार से जीव के लक्षण से यदि अरिहन्त को पहिचाने, वह आत्मा को अन्तर में पहिचाने बिना रह नहीं सकता। उसके स्वरूप को वास्तविक अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी जाना नहीं। सेठी! अरिहन्त का आत्मलक्षण का क्या स्वरूप, उसे अभी तक अनन्त काल में अज्ञानी ने जाना नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : रोज भगवान के दर्शन करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भगवान के दर्शन राग के करता है। राग... राग और पर।

भगवान अरिहन्त कौन थे? वह दिव्यशक्ति उन्हें अन्तर में कैसी थी? और उन्होंने प्रगट करके पूर्णता की प्राप्ति कैसे की? और वह प्राप्ति ऐसी की ऐसी रही, ऐसे जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय के लक्षण, अरिहन्त के जाने, उसे अन्तर में सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया? वास्तविक अरिहन्त के लक्षण उसने (जाने नहीं)। अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक जैन दिगम्बर साधु होकर गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' यह वीतराग के आत्मा को जो पहिचाने, उसे आत्मा की पहिचान (होती है कि) ऐसी ही मेरी जाति है। जैसा आत्मा वह प्रगटरूप से परिणमे, सोलहवान सोना शास्त्र में दृष्टान्त दिया है न, सोलहवान सोना जो ऐसा उत्कृष्ट रूप से जिसकी दशा प्रगट हुई, ऐसा ही मेरा आत्मा है, क्योंकि मैं भी द्रव्य से पूर्ण हूँ, गुण से पूर्ण हूँ, पर्याय में अल्पज्ञता है परन्तु पर्याय में पूर्ण करने की मुझमें ताकत है। ऐसी अरिहन्त की पहिचान और उनके लक्षण की पहिचान होने से इस आत्मा की ओर झुककर, आत्मदेव को प्रगट करे। उसे आत्मा की भगवान की, अरिहन्त की सच्ची भक्ति और पहिचान हुई कहलाती है। ऐसे तो सब णमो

अरिहंताण... णमो अरिहंताण... (बोलते हों)। कल पूछता था न एक व्यक्ति कि इतने लाख नमस्कार जप डालें तो क्या होगा? राग होगा। समझ में आया? 'नव लाख जपंता नरक निवारे....' नहीं आता? सेठी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कितनी मेहनता की। राग की भूमिका में यह प्रयत्न किया। नौ लाख क्या, अनन्त करोड़ बार नाम जपे। नौवें ग्रैवेयक में अनन्त बार जैन दिगम्बर साधु होकर गया। एक... एक... एक भव में आठ वर्ष में दीक्षा, करोड़ पूर्व तक। उसमें एक-एक दिन के णमोकार सवेरे-शाम के गिनो तो एक भव में अरबों णमोकार हों। क्या कहा, समझ में आया? आठ वर्ष में दीक्षित हुआ तो करोड़ पूर्व तक। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ वर्ष और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। ऐसे हमेशा प्रतिक्रमण करे और सवेरे गिने तो णमोकार तो कितनी बार बोले। तत्प्रमाण आठ वर्ष गुणा करोड़ पूर्व णमोकार एक भव में गिने। जिसका आँकड़ा अरबों-अरबों होता है। ऐसे अनन्त भव किये। समझ में आया? ऐसे अनन्त अरबों-अरबों णमोकार अनन्त बार गिने। परन्तु णमोकार एक बार सच्चा गिना नहीं। समझ में आया? यह अरिहन्तपद, यह आत्मपद, इसकी ऋद्धि और सम्पदा कैसी है? उसे जाने, उसको आत्मा का ज्ञान होता है। तो यह देव की पहिचान १४वें में आ गयी।

हे नाथ! इस जगत में मणि, औषधि, कामधेनु, कल्पवृक्ष या रसायन अर्थात् सिद्धरस। यह सिद्धरस है कि इससे सोना होता है, इससे यह होता है। यह सब नाम प्रभु आपके हैं। समझ में आया? यह सब पर्याय नाम, अन्य नाम, भिन्न-भिन्न नाम, भगवान अरिहन्त पद वह आपके सब नाम हैं। निश्चय से देखें तो भगवान चैतन्यधातु के यह सब नाम हैं। समझ में आया? ध्रुव चिदानन्द, अनादि-अनन्त, अनन्त गुण की खान आत्मा यह उसके सब मणि और औषध, रतन और रसायन, कल्पवृक्ष और कामधेनु और कामकुम्भ ये सब कहलाते हैं, वह आत्मा को लागू पड़ते हैं। ऐसी जिसे पहिचान आत्मा के माहात्म्य की हुई, उसे अल्प काल में संसार का अभाव होकर मोक्ष होता है। यह चौदहवीं गाथा में कहा। उसका जहर उतर गया, उस लड़के का। व्यवहार से।

अन्दर में से जहर उतर गया। स्वरूप की दृष्टि और स्वरूप का बहुमान (हुआ)। आत्म अवलोकन—जिसके अवलोकन की भूमि में एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण, एक-एक गुण में अनन्त पर्याय होने की ताकत, ऐसा भगवान एक सेकेण्ड के असंख्य समय में आत्म-अवलोकन से देखे, यह उसे अनुभव होकर अल्प काल में केवलज्ञान होता है। यह चौदहवीं गाथा में कहा, संसार का जहर उतर जाये।

काव्य १५

चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वम्,
देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं,
सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः॥ १५॥

हे जिनेश! तुम अपने मन में, नहीं किसी को लाते हो।
पर जिस किसी भाग्यशाली के, मन में तुम आ जाते हो॥
वह निज-कर में कर लेता है, सकल जगत को निश्चय से।
तब मन से बाहर रहकर भी, अचरज है रहता सुख से॥

अन्वयार्थ — (देवः) हे देव! (त्वम्) आप (चित्ते) अपने हृदय में (किञ्चित्) कुछ भी (न कृतवान् असि) धारण नहीं करते हैं किन्तु (येन) जिसके द्वारा आप (चेतसि) हृदय में (कृतः) धारण किये हैं, (तेन) उसके द्वारा (सर्वम्) समस्त (जगत्) संसार (हस्ते कृतम्) हाथ में कर लिया गया है — अर्थात् उसने सब कुछ पा लिया है। लेकिन यह (विचित्रम्) आश्चर्य की बात है और आप (चित्तबाह्यः अपि) मन से रहित होते हुए भी (सुखेन जीवति) सुख से जीवित हैं, यह आश्चर्य है।

भावार्थ — यह बात प्रसिद्ध है कि यदि किसी के शरीर पर पाँच हजार के आभूषण हैं तो वह जिस कुर्सी पर बैठेगा, उस कुर्सी पर भी पाँच हजार के आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता है। लेकिन हे प्रभु! यहाँ विचित्र ही बात है क्योंकि आपके चित्त में तो कुछ भी नहीं है,

पर जो मनुष्य आपको अपने चित्त में विराजमान करता है, उसके हाथ में सब कुछ आ जाता है।

इस विरोधाभास का परिहार यह है कि यद्यपि आपके पास किसी को देने के लिए कुछ भी नहीं है और रागभाव न होने से आप मन में भी ऐसा विचार नहीं करते कि मैं इस मनुष्य को यह वस्तु दूँ, फिर भी भक्त जीव अपनी शुभ भावनाओं से शुभकर्मों का बन्ध कर, उनके उदयकाल में सब कुछ पा लेते हैं।

अथवा जो यथार्थ में आपको अपने हृदय में धारण कर लेता है, वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है, उसकी सब इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। वह सोचता है कि 'मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। मैं आज आपको अपने चित्त में धारण कर सका तो मानों तीन लोक की सम्पत्ति मेरे हाथ में आ गयी।'

दूसरा विरोधाभास यह है कि आप चित्त-चेतन से बाह्य होकर भी जीवित रहते हैं। लोक में जो चेतन से रहित हो जाता है, वह मृत कहलाने लगता है, लेकिन यहाँ उससे विरुद्ध बात है। इस विरोधाभास का परिहार यह है कि आप चित्त-बाह्य अर्थात् आप मन से चिन्तवन नहीं करते, फिर भी आप अनन्त सुख से हमेशा जीवित रहते हैं, आप अजर-अमर हैं। तात्पर्य यह है कि आपमें अनन्त सुख है तथा आप इतने अधिक प्रभावशाली हैं कि आपको मन के माध्यम से चिन्तवन नहीं करना पड़ता।

काव्य - १५ पर प्रवचन

१५वीं।

चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वम्,
देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं,
सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः॥ १५॥

इसका हिन्दी —

हे जिनेश! तुम अपने मन में, नहीं किसी को लाते हो।
पर जिस किसी भाग्यशाली के, मन में तुम आ जाते हो॥

वह निज-कर में कर लेता है, सकल जगत को निश्चय से।
तब मन से बाहर रहकर भी, अचरज है रहता सुख से॥

विरोधाभास कहते हैं, देखो!

इसका अन्वयार्थ - **(हे देव!)** हे अरिहन्त परमात्मा ? हे सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ गुणेश्वर! हे गुण के ईश्वर परमात्मा। **आप अपने हृदय में कुछ भी धारण नहीं करते हैं....** प्रभु! आपके ज्ञान में कुछ भी दूसरा राग-द्वेष, संसार कुछ रखते हैं। **किन्तु जिसके द्वारा आप हृदय में धारण किये हैं,....** परन्तु जिस भक्त के चित्त में आप बस गये हैं। अरिहन्तपद ऐसा है, ऐसा इसने ज्ञान में यह बसाया है। **उसके द्वारा समस्त संसार हाथ में कर लिया गया है**- उसने पूरा जगत—तीन काल-तीन लोक के पदार्थ का ज्ञान उसे हो जाता है। समझ में आया ? उसे कर में कर लिया—हाथ में कर लिया।

आप कुछ चित्त में किसी को रखते नहीं। परन्तु आपको जो कोई चित्त में अन्दर रखे.... देखो! यह अरिहन्त भगवान त्रिलोकनाथ की पर्याय की पूर्णता जिसके अन्तर में बैठी, भगवान! उस हाथ में तीन काल-तीन लोक जगत की सब विचित्रता उसने ज्ञान में ले ली। उसे कुछ अपूर्ण ज्ञान रहे और केवलज्ञान न हो, ऐसा नहीं होता। ऐसे अरिहन्त को जिसने अन्तर में माना और देखा, उसने तीन काल-तीन लोक देखे। 'ऐगं जाणहि सव्वं जाणहि।' एक अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर चित्त में बैठाया, सब तीन काल-तीन लोक उसने देखे। उसे कुछ न्यूनता या कमी है नहीं। एक बात।

यह आश्चर्य की बात है.... यह आश्चर्य की बात है। **और आप मन से रहित होते हुए भी....** अरे! भगवान! आपकी एक विचित्रता, आप चित्त बाह्य रहते हो, मन से बाह्य रहते हो। आप मन से अचेत रहते हो, तथापि **सुख से जीवित हैं,....** समझ में आया ? आप मन के बाहर रहते हो। चेतनस्थित अर्थात् यहाँ चैतन्य स्थित लेना है। 'चित्तरूपी चेतन' जो निमित्त है जानने में, उससे बाहर रहते हो, तथापि सुख से अनन्त जीवन को आनन्द से जी रहे हो। समझ में आया ? देखो! यह विरोध, विरोधाभास करके जहर उतारने की बात करते हैं।

भावार्थ — यह बात प्रसिद्ध है कि यदि (मोहन के) किसी के शरीर पर पाँच

हजार के आभूषण हैं.... दृष्टान्त देते हैं। कोई मोहन नाम का व्यक्ति हो, उसके ऊपर पाँच हजार के गहने हों। दागीना समझते हो न? जेबर। **तो वह मोहन जिस कुर्सी पर बैठेगा, उस कुर्सी पर भी पाँच हजार के आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता है।** शरीर पर खाली हो तो कुर्सी पर बैठा हो तो खाली कुर्सी कहलायेगी।

लेकिन हे प्रभु! यहाँ विचित्र ही बात है.... भगवान! तुझमें तो कोई विचित्र बात है। **आपके चित्त में तो कुछ भी नहीं है, पर जो मनुष्य आपको अपने चित्त में विराजमान करता है,....** ओहो! समझ में आया? यह लोग ऐसा कहते हैं न बहुत कि भगवान ने देखा ऐसा होगा, हम क्या कर सकते हैं? सेठी! परन्तु भगवान जिसके ज्ञान में बैठे, यह उसे भव नहीं हो सकते। समझ में आया? तीन लोक के नाथ परमात्मा, जिसके ज्ञान में बैठे, उस भक्त को भव की भीड़ नहीं होती। भव नहीं होते, भव नहीं होते, कोलकरार करता आता है कि अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करेगा। उसने अरिहन्त भगवान ने देखा होगा, वैसा होगा। अरे! सुन न! तूने भगवान का अस्तित्व माना है या नहीं? भगवान ने देखा होगा, वैसा होगा, यह बात बराबर है। परन्तु पहले भगवान है, ऐसा माना है या नहीं? सर्वज्ञ की सत्ता जगत में विराजती है, ऐसी सत्ता को स्वीकारा है? अर्थात् स्वीकार उसे कहा जाता है कि वह अरिहन्त को अन्तर में माने, तब अरिहन्त है, ऐसा स्वीकार कहलाता है।

हे प्रभु! आप जिसके चित्त में विराजमान हैं, यह **उसके हाथ में सब कुछ आ जाता है।** सेठी! तीन काल–तीन लोक उसके ज्ञान में आ गये। इन्द्रादि सब उसके चाकर होकर रहेंगे। ऐसा प्रभु आप जिसके हृदय में बैठे, उसे क्या बाकी (रहे)? समझ में आया? एक बार तो स्तुति करते हुए वह आता है न एक? एकीभाव स्तोत्र। वादीराज मुनि थे, उनके शरीर में कोढ़ था, कोढ़–कोढ़। उनका भक्त जो श्रावक था, उससे एक बार लोक ने चुगली की कि प्रभु! यह तो कोढ़ी का शिष्य है। यह कोढ़ी का शिष्य है और यह राज्य में आकर सबको चेप लगाता है। चेप लगाता है चेप। राजा ने कहा कि अरे! देवानुप्रिया! क्या तुम्हारे गुरु को कोढ़ है? अन्नदाता! मेरे गुरु कोढ़ी नहीं। थे तो

कोढ़ी, हों! अन्नदाता! मेरे गुरु कोढ़ी नहीं। ऐसा कहा गया। कहकर गुरु के पास गया, प्रभु! आज वहाँ ऐसी बात हुई है, हों! किसी ने चुगली की, मैं आपका भक्त हूँ, यहाँ आया। ऐसा हूँ और वहाँ जाता हूँ राज में। वह ऐसी चुगली हुई, आज ऐसा हुआ। शान्ति रखो। वादीराज कहते हैं कि शान्ति रखो। सब अच्छा होगा। ऐसा कहकर एक स्तुति शुरु की। अरे! भगवान! जिस माता के गर्भ में आप आओ और तब नगरी स्वर्ण की हो, वह इन्द्र नगरी सोने की रचे, यह प्रभु! हम तुम्हें आत्मा में निकट स्थापित करते हैं और इस शरीर में रोग रहे, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया?

यह आप जहाँ माता के उदर में आओ, इन्द्र आकर साफ करे और नगरी स्वर्ण की हो। सोने के गढ़ और रत्न के कंगूरे। प्रभु! त्रिलोकनाथ हमने हमारे ज्ञानमन्दिर में आपको पधराते है, यह हमारे दुःख तुम कैसे देख सकते हो अब? रागादि के दुःख भी प्रभु हम विराजमान तुम्हें ज्ञान में करते हैं। हमारे दुःख आप नहीं देख सकते, हों! हमारे घर में आये। अच्छा व्यक्ति घर में आवे तो कहे, ऐसा कैसे है इन लड़कों को? क्यों पढ़े-बढ़े नहीं? यह फटेहाल कैसे हो? वह ऐसा देख नहीं सकता।

यह नाथ! तीन लोक के नाथ जिसके चरण पड़ें, वहाँ तीर्थ जमीन हो, जिसके चरण जहाँ पड़े वहाँ तीर्थ (होता है), इन्द्र भी जिसे वन्दन करे, उसकी धूल को। प्रभु! हमने चित्त में आपको रखा है, हों! आपको हमने ज्ञान में अन्दर प्रवेश कराया है। प्रभु! अब हमारा दुःख आप नहीं देख सकते, हों! उस दुःख का नाश ही आप कर सकोगे। और यह शरीर भी कोढ़ी रहे, (ऐसा) बने नहीं। सोने की नगरी हो गयी। प्रभु! स्वर्ण समान शरीर हो, वह तो आपका प्रताप है। परन्तु मिलान खाया न (तो) एकदम शरीर का कोढ़ फड़ाक.... फड़ाक.... फड़ाक.... जहाँ स्तुति करने लगे वहाँ। प्रभु! आप ऋषभदेव हो। आपका शरीर सोने का था। सुवर्ण वर्ण में था। आपको अन्दर में बैठाया, हमारा शरीर भी जंगरहित चैतन्य का हो और शरीर में भी रोग रहे नहीं। समझ में आया? सेठी! यह भक्ति चलती है।

इस विरोधाभास का परिहार यह है कि यद्यपि आपके पास किसी को देने के लिए कुछ भी नहीं है और रागभाव न होने से आप मन में भी ऐसा विचार नहीं करते

कि मैं इस मनुष्य को यह वस्तु दूँ, फिर भी भक्त जीव अपनी शुभ भावनाओं से शुभकर्मों का बन्ध कर,.... और अपनी शुद्ध परिणति में आपको बैठाया और आपका ज्ञान यथार्थ अन्दर हुआ, उससे शुद्ध की धारा बहती है। **उदयकाल में सब कुछ पा लेते हैं।** यह वर्तमान परिणति में भी सब ज्ञान की निर्मलता होती है और शुभभाव के कारण बाह्य में संयोग, वह अज्ञानी को न हो, ऐसे संयोग ज्ञानी को मिलते हैं। समझ में आया ? वह शुभभाव सम्यग्दृष्टि की भूमिका में जो हो, उससे अनन्त काल में नहीं बाँधा हुआ पुण्य बँधता है और उसे सत्पुण्य कहने में आता है। उस सत्पुण्य के फल में अनन्त काल में शरीर नहीं मिला, ऐसा हमें शरीर मिलेगा। ऐसे रजकणों की दशा जो यह शुभभाव, अनन्त काल में सत् ज्ञान की भूमिका में नहीं हुआ था, ऐसे सत् के अन्तर्दृष्टि की भूमिका के भान में आया हुआ यह भक्ति का भाव, भगवान! हमारा शरीर बदल गया। हम तो बदल ही जायेंगे। बदल गये, परन्तु हमारा शरीर भी (बदल गया)। यह मिला, ऐसा अब शरीर मिलेगा नहीं। सेठी! दो धारा साथ चलती है। एक ओर शुद्ध तथा एक ओर शुभ। इस बन्ध के कारण में संयोग की अनुकूलता, अबन्ध परिणाम में स्वभाव की अनुकूलता। कहते हैं कि जो आपका स्तवन करता है और चित्त में रखता है, उसके शुभकर्म के फलरूप से बहुत संयोग प्राप्त होते हैं।

अथवा जो यथार्थ में आपको अपने हृदय में धारण कर लेता है,... देखो! यथार्थ में। **वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है,....** ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है। कुछ चाहिए नहीं। चाहिए वह हमारे पास है। समझ में आया ? **उसकी सब इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं।** भगवान! आप वीतराग और जिसने ज्ञान में पधराया, उस ज्ञानभूमिका में पधराया। यह उसे कोई इच्छा नहीं रहती। शान्त... शान्त.... शान्त। हमारे सब काम हो गये। भगवान हमारे घर पधारे। भगवान हमारे घर पधारे।

याद है एक बार ? दामनगर का। गायकवाड सरकार निकले थे। तो जेठालालभाई ने वहाँ रुपये बिछाये थे। सिंहासन में, भाई! चाँदी के रुपये। तब तो रोकड़ रुपये थे न ? अकेले रुपये बिछाकर सिंहासन बनाया था गायकवाड़ सरकार को बैठाने के लिये। हमारा राजा गायकवाड़। यह दामनगर है न! सयाजीराव आये थे, उन जेठालालभाई के

घर में। जेठालाल त्रिभुवन। सिंहासन दूसरे का नहीं। यह सब रुपये ही ऐसे रचे। सब सिंहासन चाँदी के रुपये का, रोकड़। हों! वह सिंहासन बनाया। दरबारे ने पूछा कि यह क्या है? अन्नदाता! चाँदी का सिंहासन हमारे यहाँ नहीं तो यह रुपये का सिंहासन बनाया है।

उसी प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा को पधराने के लिये प्रभु! हमारी पूर्ण शक्ति व्यक्तता तो नहीं। समझ में आया? परन्तु हमारी रोकड़ ज्ञान की परिणति जो चलती है, उसमें आपको पधराया है। समझ में आया? अब भगवान हमारे शरीर में कुछ रोग रहे और यह अस्थिरता का रोग रहे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। उसने भगवान को आत्मा में सत्कार और आवकार करके पधराया।

वह सोचता है कि 'मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। ज्ञानी जिसे केवलज्ञान परमात्मदशा, वह अल्प ज्ञान में जिसने पधराया, उसे सर्वज्ञस्वभाव के आश्रय से हुए बिना रहे नहीं। **मैं आज आपको अपने चित्त में धारण कर सका तो मानों तीन लोक की सम्पत्ति मेरे हाथ में आ गयी।'** आहाहा! कहो, समझ में आया? **दूसरा विरोधाभास यह है कि आप चित्त-चेतन से बाह्य....** चित्त अर्थात् मन से **बाह्य होकर भी जीवित रहते हैं।** आपकी कोई विरोधता और विचित्रता **लोक में जो चेतन से रहित हो जाता है, वह मृत कहलाने लगता है,....** चित्त से बाहर हो वह तो मनरहित हो वह तो मर जाये। आप चित्तरहित होकर भी चैतन्य के केवलज्ञान में आनन्द में जी रहे हो।

लेकिन यहाँ उससे विरुद्ध बात है। इस विरोधाभास का परिहार यह है कि आप चित्त-बाह्य अर्थात् आप मन से चिन्तवन करनेयोग्य.... आप चित्त-बाहर हो और जीवों को भी चिन्तवन मन से हो सके ऐसा वह है नहीं। प्रभु! आपकी सत्ता चिन्तवन के बाहर है। आपकी सत्ता इस मन से चिन्तवन हो सके, ऐसा स्वरूप नहीं है। यह तो वचनातीत, विकल्पातीत, रागातीत, वचनातीत है। ऐसे स्वरूप की दृष्टि जिसे हुई प्रभु! उसके हृदय में आप विराजमान हुए।

अनन्त सुख से हमेशा जीवित रहते हैं,.... कहो! यह चित्त बाहर हुआ और कल्पना में आप आ सको नहीं, इस प्रकार से जहाँ अन्तर में निश्चित किया, वहाँ आत्मा

में आनन्द की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। **आप अजर-अमर हैं।** आप तो अजर-अमर हो। चित्त बाहर निकलकर भी मरे नहीं। चित्त बाहर मनरहित हुए, वे पागल हो गये या मर गये। **तात्पर्य यह है कि आपमें अनन्त सुख है तथा आप इतने अधिक प्रभावशाली हैं कि आपको मन के माध्यम से चिन्तवन नहीं करना पड़ता।**

काव्य १६

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी-
स्वामीति संख्यानियतेरमीषाम्।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यत्,
तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम्॥ १६॥

त्रिकालज्ञ त्रिजगत के स्वामी, ऐसा कहने से जिनदेव।
ज्ञान और स्वामीपन की, सीमा निश्चित होती स्वयमेव॥
यदि इससे भी ज्यादा होती, काल जगत की गिनती और।
तो उसको भी व्यापित करते, ये तव गुण दोनों सिरमौर॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (त्वम्) आप (त्रिकालतत्त्वम्) भूत, भविष्यत् और वर्तमान — इन तीनों कालों के पदार्थों को (अवैः) जानते हैं, तथा आप (त्रिलोकी स्वामी) ऊर्ध्व, मध्य और पाताल — इन तीनों लोकों के स्वामी हैं। (इति संख्या) इस प्रकार की संख्या (अमीषां नियतेः) उन पदार्थों के निश्चित संख्यावाले होने से (युज्यते) ठीक हो सकती है परन्तु (बोधाधिपत्यं प्रति न) ज्ञान के साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती क्योंकि (चेत्) यदि (ते अन्ये अपि अभविष्यन्) ऐसे और भी पदार्थ होते (तर्हि) तो (इदम्) ज्ञान (अमून् अपि) उन्हें भी (व्याप्स्यत्) व्याप्त कर लेता, जान लेता।

भावार्थ — हे प्रभो! आप तीन काल तथा तीन लोक की बात जानते हैं, इसलिए आपका ज्ञान भी उतना ही है, ऐसा नहीं है; किन्तु आपके ज्ञान का साम्राज्य

सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं, उनको तो ज्ञान जानता ही है, यदि इनके सिवाय और भी पदार्थ होते, तो ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता।

काव्य - १६ पर प्रवचन

१६वीं।

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी-
स्वामीति संख्यानियतेरमीषाम्।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यत्,
तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम्॥ १६॥

त्रिकालज्ञ त्रिजगत के स्वामी, ऐसा कहने से जिनदेव।
ज्ञान और स्वामीपन की, सीमा निश्चित होती स्वयमेव॥
यदि इससे भी ज्यादा होती, काल जगत की गिनती और।
तो उसको भी व्यापित करते, ये तव गुण दोनों सिरमौर॥

देखो! यहाँ लोग कहते हैं कि भगवान तीन काल और तीन लोक को जानते हैं। हाँ, महाराज! वहाँ तो सीमितता हो गयी। वहाँ सीमित हो गये ऐसा। तीन काल और तीन लोक वह सीमित हो गये ऐसा। वे कहते हैं, यह अभी नहीं। परन्तु आपका ज्ञान सीमित नहीं है। ज्ञेय तीन काल और तीन लोक सीमित हो गये कि यह तीन काल इतने और तीन लोक इतने। समझ में आया? वे कहते हैं, ऐसा नहीं, हों! वापस वे कि भगवान ने अनन्त को जाना, इसलिए वहाँ उसमें अन्त आ गया, ऐसा नहीं है। उस अनन्त को अनन्तरूप से जाना, वह भी एक सीमा आ गयी। ऐसा कहते हैं। वहाँ वस्तु की। परन्तु आपके ज्ञान में सीमा नहीं, प्रभु! इसकी अपेक्षा अनन्त काल होता और अनन्त लोकालोक होता तो भी आप ज्ञान की एक समय की पर्याय में जान सकते हैं। देखो! एक माहात्म्य केवलज्ञान। समझ में आया?

आता है न? परमात्मप्रकाश में आता है। धर्मदास क्षुल्लक में आता है। दृष्टान्त

आता है कि भगवान! यह बाँस का मण्डप होता है न? बाँस का मण्डप—माँडवो। उसमें बेल चढ़ती है, बेल। चढ़ते.... चढ़ते.... चढ़ते.... उसके बाँस के ठोंगा हो वहाँ तक जाती है। फिर कहाँ जाये? फिर ऊपरा-ऊपर ऐसे हो। इसलिए बाँस के ठोंगा.... ठोंगा समझते हो? छोर-छोर। परन्तु प्रभु! उस बाँस के छोर तक गयी परन्तु बेलड़ी में सामर्थ्य तो बहुत है।

इसी प्रकार हे नाथ! यह लोकालोक और तीन काल का मण्डप, यह इसे ज्ञान पहुँच जाता है। परन्तु ज्ञान इतना ही है, ऐसा नहीं है। इससे भी प्रभु! अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... जिसकी एक समय की दशा में, एक समय के ज्ञान का अंश, वह अंश, अंशी तो पूरा रह गया। उस अंश में भी इस लोकालोक को सीमित तुमको.... सीमित अर्थात् यह है इतना ऐसा। परन्तु यहाँ तो सीमित बिना का ज्ञान है। अनन्त-अनन्त काल इससे तीन गुना होता अनन्त गुणा और अनन्त गुणा लोकालोक (होता) तो आपका ज्ञान जान ले। ऐसा विकल्पातीत चैतन्य की महिमा करने का यह विषय है।

आप भूत, भविष्यत् और वर्तमान—इन तीनों कालों के पदार्थों को जानते हैं, तथा आप ऊर्ध्व, मध्य और पाताल—इन तीनों लोकों के स्वामी हैं। स्वामी हो, वश है। **इस प्रकार की संख्या....** संख्या अर्थात् मर्यादा। मर्यादा अर्थात् अनन्त को अनन्तरूप से संख्या ऐसा। **उन पदार्थों के निश्चित संख्यावाले होने से ठीक हो सकती है....** उतने अनन्त हैं, ऐसी संख्या। संख्या अर्थात् सीमित, ऐसा नहीं। अनन्त अनन्त है, ऐसा आपने जाना परन्तु उस अनन्त की सीमा आ गयी कि यह अनन्त है ऐसा। **परन्तु ज्ञान के साम्राज्य के प्रति....** ज्ञान का राज प्रभु आपका.... आहाहा! जिसे इस ज्ञान के साम्राज्य की महिमा आयी, यह उसे अनित्य पदार्थ और राग की महिमा अन्तर से छूट जाये। ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती.... संख्या अर्थात् ऐसा कि जितना तीन काल और तीन लोक है, उतनी ज्ञान की मर्यादा नहीं है। उससे अनन्त गुणी है। देखो न! अब वे कहते हैं कि नहीं, केवलज्ञान में अमुक ही जाने। अमुक जाने, सामान्य जाने, विशेष न जाने। वह कहे, एक-दूसरे के अपेक्षित धर्म न

जाने। अरे! भगवान! तुझे ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय, उसकी सत्ता का स्वीकार तूने किया नहीं। उस सत्ता का स्वीकार जिसकी दृष्टि में अन्दर ज्ञान में आवे, वह अल्प काल में केवलज्ञानी हो जाये। समझ में आया? ऐसे तो सब णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं किया ही करे। सवेरे से उठे तो। क्या कुछ कहते हैं? पार्श्वनाथ परचो पूरो। ऐसा कहते हैं न? शान्तिनाथ शान्ति करो। साता करो। दाँतन-बाँतन करके इतना दो-चार बोले। हो गया धर्म, लो। भगवान को स्मरण किया था सवेरे। धूल में भी स्मरण नहीं किया। यदि भगवान को एक बार स्मरण करे और भगवान न हो, यह तीन काल में नहीं होता। स्मरण किया। परन्तु स्मरण कब करे? भगवान का, आत्मा का, द्रव्य का, गुण का, पर्याय का स्वरूप पकड़कर, विचारकर, निर्णय कर, धारण किया होता तो उसका स्मरण होता। परन्तु उसने धारण नहीं किया। उसने तो स्मरण किया राग का। भगवान ऐसे थे। ओहोहो! परन्तु क्या ओहोहो... यह? समझ में आया? इस देव को इसने दिव्यशक्ति की प्रगटता को पहिचाना नहीं। अनन्त-अनन्त लोकालोक और काल होता, प्रभु! आपके ज्ञान के साम्राज्य में संख्यातीत नहीं। वहाँ सीमा आती (नहीं)। ऐसे सीमा आती नहीं।

क्योंकि यदि ऐसे और भी पदार्थ होते तो ज्ञान उन्हें भी व्याप्त कर लेता, जान लेता। उन्हें भी ज्ञान जान ले। क्या उसका कहना? आहाहा! अरे! यह कितनी बात अभी केवलज्ञान के लिये घुटती है और कितनी विपरीतता लेते हैं। आहाहा! केवलज्ञान सर्व द्रव्य पर्याय को जानता है। परन्तु छद्मस्थ उसके विषय को निर्णय कर (नहीं) सकता है। अरे! भगवान! तू क्या कहता है यह? समझ में आया? भावश्रुत के ज्ञान में केवलज्ञान कितना ऐसा निर्णय छद्मस्थ कर सकता है। समझ में आया? भले अपरिमित उसकी शक्ति पर्याय में हो। परन्तु श्रद्धा के ज्ञान में एक समय में तीन काल-तीन लोक प्रभु आपने देखे तत्प्रमाण वहाँ होता है। तत्पश्चात्। परन्तु यह देखा उसका सामर्थ्य इससे अनन्त गुणा है। उसे ज्ञान में बैठाया यह उसे विकल्प से रहित हुए बिना यह अनन्त ज्ञान का माहात्म्य अन्दर में बैठता नहीं। समझ में आया? भगवान... भगवान किया करे। महावीर.... महावीर.... महावीर.... महावीर.... रटा कर न अब। भगवान किसे कहना? उस तोते को पुरी दे न पुरी। बोल तोता रघुराम। वह यह मानो यह पुरी

रघुराम होगी। या मूंग के आते है न, क्या कहलाते हैं उसके? दाने। यह मूंगफली के दाने आते हैं न? तोता को मीठे लगे। ऐसे ऊपर लाल और अन्दर मीठा। वह माने कि मीठा रघुराम होगा ऐसा। अरे! बापू! 'निजपद रमे सो राम कहिये।' रघुराम कौन है, इसकी तुझे खबर नहीं। परन्तु ऐसे णमो अरिहंताणं रट-रटकर मर जाये अनन्त काल से। परन्तु अरिहन्त के पद के अन्तर स्वरूप के भान बिना बेहद तेरी जाति प्रभु। आहाहा! बेहद ज्ञान की प्रतीति जिसे। वह राग की हद में, वह श्रद्धा में रह सकेगा ही नहीं। समझ में आया? राग, वह सब मर्यादित चीज़ है। उसे अन्तर ज्ञान की महिमा में उसका स्वभाव लाये बिना रहेगा नहीं। जिसे अनन्त आयी, महिमा आयी उसे।

भावार्थ :- हे प्रभो! आप तीन काल तथा तीन लोक की बात जानते हैं, इसलिए आपका ज्ञान भी उतना ही है, ऐसा नहीं है;.... उतना ही है, ऐसा नहीं है; किन्तु आपके ज्ञान का साम्राज्य सब ओर अनन्त है। चारों ओर से अनन्त है। ओहोहो! उसमें लिया है न? ज्ञान की एक समय की पर्याय, उसमें अनन्त सत् और थट और नट लिया है न? एक समय की पर्याय। अनन्त गुण को, अनन्त द्रव्य को ज्ञान में जाने। इतना तो अन्दर में एक समय में नाच हो रहा है। समझ में आया? इस नाच में वापस ठठ और सब सत्ता का स्वीकार और उस सत्ता का सामर्थ्य और उसकी कला, उसके भाव ऐसा कहकर बड़ा लिया है। बनारसीदास ने लिया है। दीपचन्दजी ने (लिया है)। समझ में आया? ऐसा भगवान अवलोकन करनेयोग्य, उसे देखे नहीं, जाने नहीं, माने नहीं, पहिचाने नहीं, और कहे, भगवान जाने और भगवान की भक्ति की। ठीक है, शुभभाव आदि होगा और फिर चार गति में वह का वह भटकने का रहेगा। परिभ्रमण मिटेगा नहीं। कहो, समझ में आया? **किन्तु आपके ज्ञान का साम्राज्य सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं, उनको तो ज्ञान जानता ही है, यदि इनके सिवाय और भी पदार्थ होते, तो ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता।**

काव्य १७

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं,
नागम्यरूपस्य तवोपकारी।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानो-
रुद्विविभ्रतश्छत्रमिवादरेण॥

प्रभु की सेवा करके सुरपति, बीज स्वसुख के बोता है।
हे अगम्य अज्ञेय! न इससे, तुम्हें लाभ कुछ होता है॥
जैसे छत्र सूर्य के सम्मुख, करने से दयालु जिनदेव।
करनेवाले ही को होता, सुखकर आतपहर स्वयमेव॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (नाकस्य पत्युः) इन्द्र की (रम्यम्) मनोहर (परिकर्म) सेवा, (अगम्यरूपस्य) अज्ञेय स्वरूप (तव) आपका (उपकारि न) उपकार करनेवाली नहीं है किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है — ऐसे (भानोः) सूर्य के लिए (आदरेण) आदरपूर्वक (छत्रम् उद्विभ्रतः इव) छत्र धारण करनेवाले की तरह, (तस्य एव) उस इन्द्र के लिए ही (स्वसुखस्य) आत्मसुख का (हेतुः) कारण है।

भावार्थ — जिस प्रकार कोई सूर्य के लिए छाता लगावे तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता क्योंकि वह सूर्य छाता लगानेवाले से बहुत ऊपर है परन्तु छाता लगानेवाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है; उसी प्रकार इन्द्र आपकी सेवा करता है, उससे इन्द्र को ही लाभ होता है क्योंकि वह अशुभास्रव से बच जाता है।

काव्य - १७ पर प्रवचन

१७ (श्लोक)।

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं,
नागम्यरूपस्य तवोपकारी।

तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानो-
रुद्बिभ्रतश्छत्रमिवादरेण ॥

प्रभु की सेवा करके सुरपति, बीज स्वसुख के बोता है।
हे अगम्य अज्ञेय! न इससे, तुम्हें लाभ कुछ होता है॥
जैसे छत्र सूर्य के सम्मुख, करने से दयालु जिनदेव।
करनेवाले ही को होता, सुखकर आतपहर स्वयमेव॥

देखो! दृष्टान्त देकर कितना भक्ति का उत्साह है!

अन्वयार्थ :- हे प्रभु! इन्द्र की मनोहर सेवा, अज्ञेय स्वरूप आपका.... हे नाथ! आपका स्वरूप तो अगम्य है। ऐसी इन्द्र की सेवा **आपका उपकार करनेवाली नहीं है....** इन्द्र की सेवा आपको उपकार नहीं करती। समझ में आया? **किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है—ऐसे सूर्य के लिए....** परन्तु आपका स्वरूप तो अप्राप्त अलौकिक है। **ऐसे सूर्य के लिए आदरपूर्वक छत्र धारण करनेवाले की तरह,....** यह प्रभु सूर्य के सामने स्वयं छत्र रखते हैं न, वह छत्र कहीं सूर्य को पहुँचता नहीं है। परन्तु छत्र के धारक को आताप हर लेता है। क्या कहा, समझ में आया? लो, यह पाँच स्तोत्र तुम करते थे न? बारम्बार स्तोत्र करते थे। भाई, पहाड़े। यह पाँच स्तोत्र प्रतिदिन बोलने की आदत थी। रटे जाये ऐसे के ऐसे रूढ़िगत से और स्वाध्याय करना, वह दूसरी स्वाध्याय रह जाये। यह पूरे दिन करे, वह स्वाध्याय कब करे फिर?

हे भगवान! **छत्र धारण करनेवाले की तरह, उस इन्द्र के लिए ही आत्मसुख का कारण है।** क्या कहा? यह इन्द्र आपकी सेवा करे, उसमें आपको कुछ उपकार नहीं है। सूर्य को कोई छत्र धरे, उसमें सूर्य को कुछ नहीं परन्तु छत्र धरनेवाले को धूप नहीं आती। इसी प्रकार प्रभु! आपकी सेवा करनेवाले को दुःख और अशान्ति नहीं रहते। समझ में आया? देखा न! दृष्टान्त भी कैसा दिया है!

भावार्थ :- जिस प्रकार कोई सूर्य के लिए छाता लगावे.... छत्र। यह छत्री। **तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता....** सूर्य का उपकार होगा छत्री में? **क्योंकि वह सूर्य छाता लगानेवाले से बहुत ऊपर है....** वह सूर्य तो कहाँ का कहाँ है। **परन्तु**

छाता लगानेवाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है;.... छाया.... छाया.... छाया.... उसे छत्र लगाया। **उसी प्रकार इन्द्र आपकी सेवा करता है, उससे आपका क्या भला होता था? इन्द्र को ही लाभ होता है....** नाथ! आपका उसमें क्या भला है? **क्योंकि वह वास्तव में आपके स्वरूप को समझ ही नहीं सका था।** आप सर्वज्ञ प्रभु पूर्णानन्द, वह कहाँ से उसकी दशा में पूर्ण दशा में वह आवे?

उल्टा शुभास्रव होने से उसी का भला होता है। लो! पुण्य-परिणाम होने पर उसे शीतल छाया संयोग की मिलती है और अन्तर की परिणति में आपको पधराने से अन्तर में शीतलता मिलती थी। भगवान! आप तो कहीं दूर रह गये! समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा में भी.... पर्याय में परिणति शुद्ध होने पर कहीं भगवान ध्रुव को कुछ लाभ नहीं होता। क्या कहा? यह परिणति द्रव्य की सेवा करे, इससे द्रव्य को कुछ लाभ (नहीं है)। शुद्ध स्वभाव की परिणति—पर्याय द्रव्य की सेवा करे परन्तु द्रव्य को कुछ नहीं मिलता। द्रव्य को उपकार या सेवा नहीं होती। परन्तु प्रभु की सेवा करनेवाले की परिणति में सुखपना प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया? देखो तो सही, यह चैतन्यप्रभु! कहते हैं कि प्रभु! आपकी सेवा करने से कहीं आपको जरा भी लाभ हो ध्रुव को? ध्रुव चैतन्य अनादि-अनन्त ज्ञायकभाव को कुछ लाभ होगा? चन्दुभाई! लाभ होगा? नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सदा एक स्वरूप ही है। उसकी सेवा करने से उसे कहाँ लाभ है? परन्तु परिणति ने—पर्याय ने पर्यायवान आत्मा की सेवा की, उसे पर्याय में सुख हुए बिना नहीं रहता, शान्ति मिले बिना नहीं रहती, ऐसा ही कोई विचित्र उसका स्वभाव है। कहो, समझ में आया?

काव्य १८

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः,
स चेत्किमिच्छाप्रतिकूलवादः।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं,
तन्नो यथातथ्यमवेविचं ते॥

कहाँ तुम्हारी वीतरागता, कहाँ सौख्यकारक उपदेश।
हो भी तो कैसे बन सकता, इन्द्रिय-सुख विरुद्ध आदेश॥
और जगत को प्रियता भी तब, सम्भव कैसे हो सकती।
अचरज, यह विरुद्ध गुणमाला, तुममें कैसे रह सकती॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (उपेक्षकः त्वम् क्व) कहाँ राग-द्वेषरहित आप ? और (सुखोपदेशः क्व) कहाँ सुख का उपदेश देना ? (चेत्) यदि आप (सः) सुख का उपदेश देते हैं, (तर्हि) तो आपका (इच्छाप्रतिकूलवादः) इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है ? अर्थात् आपके इच्छा नहीं है — ऐसा कथन क्यों किया जाता है ? (असौ क्व) कहाँ इच्छा के अभाव में बोलना ? (वा) और (सर्वजगत्प्रियत्वम्) कहाँ सब जीवों को प्रिय होना ? इस तरह आपकी प्रत्येक बात में विरोधाभास है; (तत्) अतः मैं (ते यथातथ्यम् नो अवेविचम्) आपकी वास्तविकता, आपके असलीरूप का विवेचन नहीं कर सकता।

भावार्थ — हे भगवन्! जब आप राग-द्वेष से रहित हैं तो किसी को सुख का उपदेश कैसे देते हैं ? यदि सुख का उपदेश देते हैं तो इच्छा के बिना कैसे उपदेश देते हैं ? यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत् के सब जीवों को प्रिय कैसे हैं ? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर विरुद्ध हैं। वस्तुतः आपकी असलियत को कोई नहीं जान सकता।

काव्य - १८ पर प्रवचन

१८ (श्लोक)।

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः,
स चेत्किमिच्छाप्रतिकूलवादः।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं,
तन्नो यथातथ्यमवेविचं ते॥

मुमुक्षु : वास्तव में....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह समझ नहीं सकता पूर्ण। ऐसा। कहा न पहले। पूर्ण न उसे ख्याल में आवे। पूर्ण कहाँ प्रगट हुआ है, इस अपेक्षा से बात है। समझ सकता है।

कहाँ तुम्हारी वीतरागता, कहाँ सौख्यकारक उपदेश।
हो भी तो कैसे बन सकता, इन्द्रिय-सुख विरुद्ध आदेश॥
और जगत को प्रियता भी तब, सम्भव कैसे हो सकती।
अचरज, यह विरुद्ध गुणमाला, तुममें कैसे रह सकती॥

आहाहा! बनाया है न अन्दर से! हृदय उद्गार निकाले हैं अन्दर से, हों! क्या कहते हैं, देखो!

अन्वयार्थ :- हे नाथ! कहाँ राग-द्वेषरहित आप? आप तो प्रभु! विकल्पातीत और राग-द्वेषरहित तथा **कहाँ सुख का उपदेश देना?** और दुनिया को सुख होने का कहाँ उपदेश! आप राग-द्वेषरहित और सुख का उपदेश दो। ओहोहो! यह तो कोई...! समझ में आया? आप तो वीतराग सर्वज्ञ प्रभु कहाँ और आपकी दिव्यध्वनि में दूसरे को सुख हो, ऐसा कहाँ? समझ में आया? **यदि आप सुख का उपदेश देते हैं, तो आपका इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है?** अर्थात् आपको इच्छा नहीं और वाणी निकलती है। एक बात। **अर्थात् आपके इच्छा नहीं है — ऐसा कथन क्यों किया जाता है?** आप सुख का उपदेश देते हो और फिर इच्छा है नहीं। भारी विरोध भाई! समझ में आया?

कहाँ इच्छा के अभाव में बोलना? दो बात है इसमें। एक तो जगत को इच्छा है और आपका उपदेश उसे इच्छा नहीं करने का मिलता है, तथापि आपको जगत प्रियरूप से स्वीकार करता है। सेठी! समझे? जीवों को प्रिय होना कहाँ? यह इच्छा आपको नहीं, तथापि इच्छावालों को आप सुख का उपदेश देते हो, तथापि आप जगत को प्रिय हो गये हो। उनकी इच्छा से विरुद्ध उपदेश है। जगत की इच्छा सुख को बाहर से प्राप्त करने की है, आप उसके नाश को करना चाहते हो, तथापि प्रभु! आप जगत को प्रिय हो। यह तो तेरी कोई विचित्रता! उनकी इच्छा विरुद्ध चले, उसका तो दुश्मन हो। कहो, इसमें आता है या नहीं? भीखाभाई! महिमा।

इस तरह आपकी प्रत्येक बात में विरोधाभास है;.... भगवान! आपको तो प्रत्येक में विरोध है। इच्छा नहीं, उपदेश मूसलाधार निकले। समझ में आया? और वह भी आपकी इच्छा बिना का सुख का उपदेश निकले, दूसरे को सुख होने का। सामनेवाले को इच्छा है, उसे तोड़ने का उपदेश निकले। आहाहा! सामने इच्छावन्त प्राणी है, उसको इच्छा निरोध करने का उपदेश निकले, तथापि प्रभु! आप महा उपकारी! ऐसा करके स्वीकार करता है। यह तुम्हारी तो विचित्रता लगती है! सामनेवाले को इच्छा विरुद्ध कहे उसे तो यह मेरा दुश्मन लगता है। मेरी तो मानता नहीं। मुझसे विरुद्ध ही यह पड़ा है। नरभेरामभाई! प्रभु! तेरी कोई बलिहारी है कि इच्छा बिना का उपदेश और इच्छावालों को सुखरूप उपदेश! समझ में आया?

उस प्रकार से मैं आपकी वास्तविकता, असलीरूप का विवेचन नहीं कर सकता। प्रभु! विकल्प से क्या स्वरूप का विवेचन करूँ? यह वाणी व्यभिचारिणी, इससे चैतन्य की महिमा कितनी आवे? आपकी महिमा क्या कहूँ? आप तो विकल्पातीत हो। इस प्रकार होऊँ तो आपकी महिमा अन्दर में ज्ञात हो।

भावार्थ :- हे भगवन्! जब आप राग-द्वेष से रहित हैं तो किसी को सुख का उपदेश कैसे देते हैं? क्या यह विरोध? यह दो विरोध आपमें कैसे लगते हैं यह? **यदि सुख का उपदेश देते हैं तो इच्छा के बिना कैसे उपदेश देते हैं?** एक तो आपको इच्छा नहीं और उपदेश देते हो। **यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत् के सब जीवों को**

प्रिय कैसे हैं? आहाहा! प्रभु वीतरागस्वभाव पूर्णानन्द सर्वज्ञस्वभाव! आपकी इच्छा बिना वाणी निकली और दूसरे प्राणी को प्रिय लगती है। आहाहा! वाह रे वाह! जगत प्रिय! यह परमेष्ठी हैं। परमेष्ठी हैं। परम इष्ट करनेयोग्य हैं। आपमें विरोधता प्रभु! इस प्रकार भासित होती है। समझ में आया? भाई! यह नहीं पढ़ा था न यह, तो यह इस बार यह नया आया। कुछ नया आना चाहिए न भक्ति में।

यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत् के सब जीवों को प्रिय कैसे हैं? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर विरुद्ध हैं। आपकी सब बात में प्रभु हमें तो विरोध लगता है, हों! ऐसा करके सामंजसता इसमें स्थापित करते हैं। बराबर है, प्रभु! आपकी इच्छा बिना उपदेश पूर्ण हो तो आपकी पास ही है। इच्छावालों के पास ऐसा उपदेश नहीं हो सकता। इच्छा बिना का आपका उपदेश पूर्ण सुख का देनेवाला आपके पास ही होता है और इच्छावालों को भी आप प्रिय हो गये हो। भगवान जो कहना चाहते हैं कि इच्छारहित होओ। सुखी होना हो तो इच्छारहित होओ। 'क्या इच्छत खोवत सबे, है इच्छा दुःख मूल।' उस इच्छारहित तेरी चीज़ है। हमने प्राप्त की है। तुझे प्राप्त करने का रास्ता और उपाय बतलाते हैं। इसलिए जगत के इच्छावाले प्राणी को भी आप प्रिय हो गये हैं।

काव्य - १९

तुङ्गात्फलं यत्तदकिंचनाच्च,
प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रे -
नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः॥

तुम समान अति तुङ्ग किन्तु, निधनों से जो मिलता स्वयमेव।
धनद आदि धनिकों से वह फल, कभी नहीं मिल सकता देव॥
जलविहीन ऊँचे गिरिवर से, नाना नदियाँ बहती हैं।
किन्तु विपुल जलयुक्त जलधि, नहीं निकलती, झरती हैं॥

अन्वयार्थ - (तुङ्गात् अकिंचनात् च) उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी (यत्फलम्) जो फल (प्राप्यम् अस्ति) प्राप्त हो सकता है, (तत्) वह (समृद्धात् धनेश्वरादेः न) सम्पत्तिवाले धनाढ्यों से नहीं प्राप्त हो सकता है। ठीक ही तो है (निरम्भसः अपि उच्चतमात् अद्रेः इव) पानी से शून्य होने पर भी अत्यन्त ऊँचे पहाड़ के समान, (पयोधेः) समुद्र से (एका अपि धुनी) एक भी नदी (न निर्याति) नहीं निकलती है।

भावार्थ - पहाड़ के आस-पास पानी की एक बूँद भी नहीं है परन्तु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है; इसलिए उससे कई नदियाँ निकलती हैं परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लबालब भरा रहता है, एक भी नदी नहीं निकलती। इसका कारण समुद्र में ऊँचाई का अभाव है। भगवन्! मैं जानता हूँ कि आपके पास कुछ भी नहीं है परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है, दीन नहीं है; इसलिए आपसे हमें जो चीज मिल सकती है, वह अन्य धनाढ्यों से नहीं मिल सकती क्योंकि समुद्र के समान वे भी ऊँचे नहीं हैं अर्थात् कृपण हैं।

काव्य - १९ पर प्रवचन

१९ (श्लोक)।

तुङ्गात्फलं यत्तदकिंचनाच्च,
प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रे -
नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः॥

तुम समान अति तुङ्ग किन्तु, निधनों से जो मिलता स्वयमेव।
धनद आदि धनिकों से वह फल, कभी नहीं मिल सकता देव॥
जलविहीन ऊँचे गिरिवर से, नाना नदियाँ बहती हैं।
किन्तु विपुल जलयुक्त जलधि से नहीं निकलती, झरती हैं॥

क्या कहते हैं ? हे भगवान! तुम उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी जो फल

प्राप्त हो सकता है,.... पैसे रहित भले हो, परन्तु जिसका चित्त उदार है। जगत में बड़ा पैसेवाला कहलाता नहीं। दरिद्र भले हो, परन्तु जिसका चित्त उदार है, उससे कुछ मिलेगा। सेठी!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : सेवा करेंगे सब। सब सेवा देंगे। वे नहीं दें, ऐसी मिठास की सेवा। समझ में आया? आहाहा!

उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी जो फल प्राप्त हो सकता है,.... मीठे वचन कहकर, सेवा से वह देगा। **वह सम्पत्तिवाले धनाढ्यों से नहीं प्राप्त हो सकता है।** अरबोंपति के निकट न मिले ऐसा प्रभु! उस दरिद्र के निकट उसकी मिठास, वाणी, शान्ति, सेवा सब उसके पास से मिलेगी। **ठीक ही तो है पानी से शून्य होने पर भी....** पर्वत में पानी की बूँद नहीं, प्रभु! बड़े पर्वत में पानी की बूँद नहीं। **लेकिन अत्यन्त ऊँचे पहाड़ के समान,....** उसमें से नदियाँ बहती हैं। आप तो प्रभु! कुछ रखते नहीं। समझ में आया? तथापि आपके पास जो नदियाँ बहे उपदेश की, वह कुबेर जैसे धनाढ्य के पास और अज्ञान के क्षयोपशमवाले के पास मिले ऐसा नहीं है। क्या कहा? कि प्रभु! बड़े पर्वत हैं न, वहाँ पानी ऊपर नहीं भरा। समझ में आया? तथापि नदियाँ वहाँ से बहती हैं और समुद्र में भरचक पानी भरा है परन्तु समुद्र से नदियाँ कभी नहीं झरतीं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत दिया?

इसी प्रकार हे नाथ! आप मानो कुछ देने के योग्य न हो, आपके पास कुछ नहीं है, ऐसा लगे, परन्तु तो भी आप जो देते हो, वह धनाढ्य, अज्ञानी क्षयोपशमवाले और कुबेर भी वह नहीं दे सकते। समझ में आया? अमृत बरसावे दिव्यध्वनि के और उस समय का केवलज्ञान वहाँ परिणतिरूप से परिणम रहा है। आहाहा! कोई इच्छा नहीं। लेने-देने की वृत्ति नहीं। इसे दूँ, इसकी करुणा नहीं। परन्तु प्रभु! आपको देने की ताकत.... उस दरिद्र से सब मिलता है। नहीं है, वहाँ से नदी बहती है। पर्वत में नहीं, वहाँ नदी बहती है। उन्नत प्रकृतिवाले प्रभु आप हैं। आपका स्वभाव अनन्त... अनन्त...

अनन्त है। आपसे सब मिलता है। इस पानी से भरचक समुद्र कभी नदी नहीं निकली, सुनी नहीं। इसी प्रकार कंजूसों के पास पैसे का पार नहीं होता परन्तु उसमें से कहीं नदी बहती नहीं। कंजूस अर्थात् समझ में आता है।

जिसे आत्मा का भान नहीं और जिसने राग में अपना धर्म मानकर बैठे, ऐसे भले ऐसा मानते हों कि हम बहुत उघाड़वाले हैं, बहुत जानकारीवाले हैं, हमारे पुण्य बड़े, दुनिया हमको बहुत मानती है। परन्तु प्रभु! वहाँ से नदी नहीं आती, हों! समझ में आया? वहाँ समुद्र नहीं फटता। समुद्र नहीं फटता। पत्थर में से नदियाँ प्रवाहित होती हैं। इसी प्रकार भगवान! आप चैतन्य उन्नत हो। उसकी धारा आपमें से जो निकली, वह दुनिया निहाल हो, ऐसा आप कुछ देते हो। और वे सब पढ़े-गिने दुनिया में बड़े कहलायें। कितने ही देव भी माने उनके नजदीक हो न ऐसे। राजा, महाराजा, करोड़ों मनुष्य माने, परन्तु प्रभु! वे धनाढ्य कहलाते हैं, परन्तु वहाँ से नदी निकलेगी नहीं। ऐसा कहकर यह दृष्टान्त भी दिया कि दरिद्र उदार।

एक जगह ऐसा बना था। साढ़े तीन रुपये की पूँजी उसके पास थी। सब बैठे। साढ़े तीन दिये। इतना तो समझे न वकील है तो। वह मानो कि वह दृष्टान्त यहाँ उतारेंगे साढ़े तीन में। और दूसरे अरबोंपति बैठे थे। उसने कहा कि यह साढ़े तीन रुपये मेरे हैं भाई! यह अभी दान की आवश्यकता है, इसलिए प्रभावना (रूप से) मेरे पास साढ़े तीन हैं, देता हूँ। दूसरों ने किसी ने दस लाख और पाँच लाख लिखाये। तब उसका जो प्रमुख था लिखनेवाला (उसने कहा) कि इन सबकी अपेक्षा इसने अधिक दान दिया है। साढ़े तीनवाले ने। सबकी अपेक्षा दान इसने दिया, था, उतना दे दिया। और यह सब पचास-पचास लाख और करोड़पति कहलाते हैं, वे अंक गिनते हैं। इसने बड़े ने कितना दिया? उससे मुझे छोटा देना चाहिए। होता है न तुम्हारे? क्या कहलाता है चन्दा। चन्दा करे न? यह सर हुकमीचन्द ने पहले इतना लिखाया। उससे अधिक नहीं लिखाया जाता। सेठी!

इसी प्रकार हे नाथ! परमात्मा! आपके पास इच्छा और राग नहीं है। और दिव्यध्वनि का जो अपार उपदेश आता है, आपके पास मिले, ऐसा दूसरों के पास मिले,

ऐसा नहीं है। देखो! उसकी ध्वनि की, उनके ज्ञान की महिमा अन्तर में उतरे, उसे भक्ति कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

भावार्थ :- पहाड़ के आस-पास पानी की एक बूँद भी नहीं है.... है? **परन्तु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है;....** उन्नत-उन्नत प्रकृति पहाड़ की। **इसलिए उससे कई नदियाँ निकलती हैं...** कई नदियाँ निकलती हैं। **परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लबालब भरा रहता है,....** समुद्र तो ऐसे लबालब भरा हुआ है। **एक भी नदी नहीं निकलती।** धर्मात्मा का एक भी वचन पूर्णता को प्राप्त कराये, ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। और अज्ञानी के मूसलधार वर्षा बरसती हो, परन्तु उसमें से कुछ मिले, ऐसा नहीं होता। यह ऐसा कहना चाहते हैं। समझ में आया? ज्ञानी का एक वाक्य। एक वाक्य भी सुना हो तो निहाल हो जाये, ऐसा शास्त्र में आता है। समझ में आया? एक वाक्य भी मिला हो यथार्थरूप से। अन्दर से स्पर्श कर आया है न! लोग निहाल हो जाते हैं। परन्तु वे भरपूर क्षयोपशम के ग्यारह अंग और नौ पूर्व के पाठक, प्रभु! उनमें से कुछ नहीं मिलता, हों! उनमें से नदी-बदी नहीं बहती।

इसका कारण समुद्र में ऊँचाई का अभाव है। क्या कहा? समुद्र ऊँचा नहीं है इसलिए नदी कहाँ से निकले? उन्नत नहीं है। और **हे भगवन्! मैं जानता हूँ कि आपके पास कुछ भी नहीं है परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है,....** पर्वत की तरह उन्नत.... उन्नत.... उन्नत.... उस जाति का विकल्प था न, केवलज्ञान हुआ तो धारा ऐसी छूटती है कि प्राणी धर्म प्राप्त किये बिना रहता ही नहीं। भगवान की ऐसी वाणी होती है कि वहाँ सुननेवाले, धर्म प्राप्त करनेवाले न हों, ऐसा नहीं हो सकता।

इसलिए आपसे हमें जो चीज मिल सकती है,... आपसे जो चीज़ मिल सकती है। **वह अन्य धनाढ्यों से नहीं मिल सकती....** ऐसे दूसरे क्षयोपशमवाले आदि हो या दूसरे विभंग आदि के उघाड़नेवाले हों, उनसे भी हमारा कल्याण होगा, ऐसा नहीं है। **क्योंकि समुद्र के समान वे भी ऊँचे नहीं हैं अर्थात् कृपण हैं।** वे भी कृपण हैं।

काव्य - २०

त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं,
दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं,
तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु॥

करो जगतजन जिनसेवा, यह समझाने को सुरपति ने।
दण्ड विनय से लिया, इसलिए प्रातिहार्य पाया उसने॥
किन्तु आपके प्रातिहार्य वसु-विधि हैं सो आए कैसे?।
हे जिनेन्द्र! यदि कर्मयोग से, तो वे कर्म हुए कैसे?॥

अन्वयार्थ — (यत्) जिस कारण से (इन्द्रः) इन्द्र ने (विनयेन) विनयपूर्वक (त्रैलोक्यसेवानियमाय) तीन लोक के जीवों की सेवा करने के नियम के लिए अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूँगा और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा — इस उद्देश्य से (दण्डम्) दण्ड (दध्रे) धारण किया था, (तत्) उस कारण से (प्रातिहार्यम्) प्रातिहार्यपना (तस्य स्यात्) इन्द्र के ही हो सकता है, (भवतः कुतस्त्यम्) आपके कैसे हो सकता है? (यदि वा) अथवा (तत्कर्मयोगात्) तीर्थङ्कर नामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से (तव अस्तु) आपके भी प्रातिहार्य -प्रतीहारपना हो।

भावार्थ — जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने के लिए तैयार हुए, तब इन्द्र ने आकर भगवान् की इच्छानुसार सब व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया था अर्थात् प्रतिहार पद स्वीकार किया था। जो किसी काम की व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया करता है, उसे प्रतिहार कहते हैं। प्रतिहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रातिहार्य कहते हैं। हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था की थी, तब सच्चा प्रातिहार्य-प्रतिहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है? क्योंकि आपने प्रतिहार का काम थोड़े ही किया था! फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है, ऐसा कहना है तो उपचार से

कहा जा सकता है क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे।

अथवा इस श्लोक का ऐसा भाव भी हो सकता है — 'तीन लोक के जीव भगवान् की सेवा करो,' इस नियम को प्रचलित करने के लिए इन्द्र ने हाथ में दण्ड लिया था, इसलिए प्रातिहार्यत्व इन्द्र के ही बन सकता है; आपके नहीं। अथवा आपके भी हो सकता है क्योंकि आपसे ही इन्द्र की उस क्रिया का कर्म-कारक का सम्बन्ध होता था।

यहाँ एक और भी गुप्त अर्थ है, वह इस प्रकार है — लोक में प्रातिहार्य पद का अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है। भगवान के भी अशोकवृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य या आभूषण होते हैं। यहाँ कवि प्रातिहार्य पद के श्लेष से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य देवों की तरह आपके शरीर पर प्रातिहार्य नहीं हैं। इन्द्र के प्रातिहार्य अर्थात् प्रतिहारीपना हो, पर आपके प्रातिहार्य या आभूषण कहाँ से आये? फिर उपचारपक्ष का आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य हो सकते हैं। उसका कारण है 'तत्कर्मयोगात्' अर्थात् आभूषणों के कार्य सौन्दर्यवृद्धि के साथ आपका सम्बन्ध होना है।

काव्य - २० पर प्रवचन

२०वीं।

त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं,
दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं,
तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु॥

करो जगतजन जिनसेवा, यह समझाने को सुरपति ने।
दण्ड विनय से लिया, इसलिए प्रातिहार्य पाया उसने॥
किन्तु आपके प्रातिहार्य वसु-विधि हैं सो आए कैसे?।
हे जिनेन्द्र! यदि कर्मयोग से, तो वे कर्म हुए कैसे?॥

अन्वयार्थ:-जिस कारण से इन्द्र ने विनयपूर्वक तीन लोक के जीवों की सेवा करने के नियम के लिए अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूँगा और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा—इस उद्देश्य से दण्ड धारण किया था,.... दण्ड अर्थात् छड़ी। भगवान जब संसार में थे, तब इन्द्र छड़ीदार थे। छड़ीदार। खम्मा अन्नदाता! इन्द्र हों छड़ीदार। प्रभु! आपके यह प्रातिहार्य। केवलज्ञान होने के पश्चात् भी यह प्रातिहार्य अर्थात् शोभा में वे कारण हुए। और **सेवा करूँगा और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा—इस उद्देश्य से दण्ड धारण किया था,....** दण्ड अर्थात् यह क्या कहा? छड़ी-छड़ी। **उस कारण से प्रातिहार्यपना इन्द्र के ही हो सकता है,....** प्रभु! वह तो इन्द्रपने का प्रातिहार्यपना आया। तुमको आठ प्रातिहार्य कहते हैं, वह कहाँ से आया? आपको आठ प्रातिहार्य होते हैं, ऐसा जगत तो कहता है। परन्तु वह तो इन्द्र को प्रातिहार्यपना शोभता है। आया तो उसे। हाथ में छड़ी रखकर। खम्मा अन्नदाता! इनका धर्म उपदेश सुनो। जगत के जीव इन गुरु का विनय करो। जगतगुरु हैं। दुन्दुभी बजाते हैं या नहीं? हे तीन लोक के जीवो! भगवान का उपदेश सुनने आओ। यहाँ से मिलेगा, ऐसा कहीं मिलेगा नहीं। इस प्रकार छड़ी पुकारते हैं इन्द्र वहाँ जाकर। प्रभु! उसे प्रातिहार्य में कहने में आता है, हों!

इस उद्देश्य से दण्ड धारण किया था, उस कारण से प्रातिहार्यपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है? लोग नहीं कहते, तुम्हारे कहाँ से आया प्रातिहार्यपना? और दुनिया कहती है कि आप प्रातिहार्य हो। आपके प्रातिहार्य है, ऐसा कहते हैं। **अथवा तीर्थंकर नामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से....** देखो! प्रेरक अर्थात् निमित्त। भगवान! बराबर है। आपको ही प्रातिहार्यपना है। क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का उदय वह तो निमित्त पड़ा, तब वह प्रातिहार्य कहने में आया। वास्तव में प्रातिहार्य आपको ही है। विरोध (अलंकार) करके बात करनी है न? समझ में आया?

गरीब मनुष्य हो न, ऐसा कहते हैं न? भाई! यह गहना तेरे कहाँ से आया? यह तुझे वहाँ कहाँ से आया? भाई! आया। देख न अब। इसी प्रकार इन्द्र को कहाँ से प्रातिहार्यपना? आपको कहाँ से प्रातिहार्यपना आया? प्रतिहार तो उसने छड़ी पकड़ी थी। भगवान! परन्तु बराबर है, हों! क्योंकि आपका कर्म ही तीर्थंकरगोत्र ऐसा कर्मयोगात

है, उसके कारण वह दशा उसकी होती है। इसलिए आपके ही प्रातिहार्य कहा जाता है। वह आपकी शोभा है। इन्द्र की शोभा नहीं, ऐसा कहना चाहते हैं। **तीर्थंकर नामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से....** प्रेरक अर्थात् निमित्त है, इतनी बात है। **आपके भी प्रातिहार्य-प्रतिहारपना हो।** आपको भी प्रातिहार्यपना है।

भावार्थ :- जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने के लिए तैयार हुए, तब इन्द्र ने आकर भगवान् की इच्छानुसार सब व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया था..... क्योंकि भगवान तो तीन ज्ञान के धनी थे। इन्द्र उनकी व्यवस्था या आजीविका के लिये यह (की)। **अर्थात् प्रतिहार पद स्वीकार किया था। जो किसी काम की व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया करता है, उसे प्रतिहार कहते हैं। जैसे कि आजकल लाठी धारण किये हुए....** वॉलियन्टर होते हैं न? स्वयंसेवक।

प्रतिहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रातिहार्य कहते हैं। प्रातिहार्य। समझे न? **हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था की थी, तब सच्चा प्रातिहार्य-प्रतिहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है? क्योंकि आपने प्रतिहार का काम थोड़े ही किया था!** आपने काम किया? स्वयंसेवकों ने किया है। समझ में आया? तथापि सब डालते हैं दूसरे को। **फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है, ऐसा कहना है तो उपचार से कहा जा सकता है क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे।** इन्द्र को तीर्थंकर नामकर्म का निमित्त आपका था, इसलिए प्रतिहार्यपना है। इसलिए आपकी शोभा है। प्रतिहार में इन्द्र की शोभा नहीं। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल २, शुक्रवार, दिनांक : ३१-८-१९६२
काव्य - २० से २५, प्रवचन नं.-०५

.... **यहाँ एक और भी गुप्त अर्थ है, वह इस प्रकार है — लोक में प्रातिहार्य पद का अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है।** आभूषण। **भगवान के भी अशोकवृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य या आभूषण होते हैं।** आठ प्रातिहार्य होते हैं न उन्हें? अशोकवृक्ष आदि दिव्यध्वनि। **यहाँ कवि प्रातिहार्य पद के श्लेष से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य देवों की तरह आपके शरीर पर प्रातिहार्य नहीं हैं।** शोभा नहीं है। **इन्द्र के प्रातिहार्य अर्थात् प्रतिहारीपना हो, पर आपके प्रातिहार्य या आभूषण कहाँ से आये?** आपकी आभूषण की शोभा आपको कहाँ से आयी? वह तो इन्द्र की शोभा है। **फिर उपचारपक्ष का आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य हो सकते हैं। उसका कारण है 'तत्कर्मयोगात्' अर्थात् आभूषणों के कार्य सौन्दर्यवृद्धि के साथ आपका सम्बन्ध होना है।** इसलिए आपको भी वह शोभा देता है।

निश्चय से लें तो चैतन्य भगवान आत्मा की निर्मल निर्विकल्प पर्याय में जो शोभा है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की। चैतन्य वस्तु एक समय में पूर्ण आनन्द और ध्रुव शुद्ध है, उसकी अन्तर्दृष्टि करने से जो पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शोभा है, वह तो पर्याय की शोभा है। द्रव्य को कहते हैं, तुम्हारी शोभा उसमें नहीं। नवनीतभाई! समझ में आया इसमें? प्रभु! आत्मा सच्चिदानन्द निर्मल अनन्त गुण का धाम है, वह तुम्हारी किसकी शोभा? वह तो पर्याय में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के कल्पवृक्ष की भाँति फलित हुए, वह तो पर्याय की शोभा है। तुम कहाँ से उसका लाभ ले गये कि हमारे कारण यह है? एक ओर ऐसा कहकर फिर बदलते हैं।

हे भगवान! चैतन्य, तेरे कारण वह शोभा हुई है। चैतन्य निर्मलानन्द द्रव्यस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र करने से वह पर्याय प्रगट हुई, वह द्रव्य के कारण प्रगट हुई। इसलिए द्रव्य की ही शोभा है, वह पर्याय की वास्तव में शोभा नहीं। सेठी!

मुमुक्षु : दोनों में से कौन सी सच्ची?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों सच्ची।

निर्मल पर्याय आत्मा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ऐसी शोभा वह पर्याय में उसका वेदन, अनुभव उसका है। समझ में आया? कहा नहीं वहाँ? (प्रवचनसार) १७२ गाथा में कहा न? आत्मा पर्याय को स्पर्श करता है, आत्मा द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। १७२ गाथा, अलिंगग्रहण में। प्रवचनसार, १७२ गाथा। सेठी! जरा सूक्ष्म पड़ेगा। आत्मद्रव्य के अनुभव की दशा में वह आत्मा पर्याय का वेदन, शुद्ध चैतन्यधातु का अनुभव करने से आत्मा के पर्याय का अनुभव होता है। इसलिए आत्मा अनुभव की पर्याय को वेदता है। आत्मा द्रव्य को स्पर्शता नहीं। अड़ता नहीं, समझते हो? छूता नहीं। छूता नहीं कहते हैं न? छूता नहीं, अड़ता नहीं—हमारी काठियावाड़ी भाषा है। अड़ना अर्थात् छूना, स्पर्शना। आत्मद्रव्य वर्तमान पर्याय का अनुभव करता है परन्तु आत्मा द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, अनुभव में स्पर्श नहीं करता। समझ में आया? इसलिए उस द्रव्य के अनुभव को ही आत्मा कहा जाता है। परन्तु उस अनुभव की शोभा, हे भगवान! वह तेरे द्रव्य के कारण है। अन्तर की धातु चैतन्य ज्ञानानन्द प्रभु, उसकी अन्तर्दृष्टि करने से वह अनुभवपर्याय प्रगट हुई, इसलिए वास्तव में शोभा अनुभव की कहते हैं। परन्तु उस अनुभव की शोभा द्रव्य के कारण है। देवीलालजी!

यह तो भगवान आत्मा के गीत हैं। विषापहार। मिथ्या भ्रमणा और राग-द्वेष का नाश। चैतन्य भगवान दिव्यशक्तिवान, यह उसकी अन्तर्दृष्टि और उसके सत्कार माहात्म्य में गया, जहर का नाश और अमृत की प्रगट दशा। आत्मा में-पर्याय में अमृत की रेलमछेल, उसकी शोभा है। तेरी शोभा तो अनुभव तो उसका ही है न? परन्तु वास्तव में तो उस अनुभव की शोभा वह द्रव्य के कारण प्रगट हुई है। ऐसा कहकर.... समझ में आया? यह २० हुई।

काव्य २१

श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः,
श्रीमान्न कश्चित्कृपणं त्वदन्यः।
यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायी
क्षतेऽसौ न यथा तमःस्थम् ॥

धनिकों को तो सभी निधन, लखते हैं, भला समझते हैं।
पर निधनों को तुम सिवाय जिन, कोई भला न कहते हैं॥
जैसे अन्धकारवासी, उजियाले वाले को देखें।
वैसे उजियाला वाला नर, नहिं तमवासी को देखे॥

अन्वयार्थ — (निःस्वः) निर्धन पुरुष (श्रिया परम्) लक्ष्मी से श्रेष्ठ अर्थात् सम्पन्न मनुष्य को (साधु) अच्छी तरह आदरभाव से (पश्यति) देखता है किन्तु (त्वदन्यः) आपके अलावा (कश्चित्) कोई (श्रीमान्) सम्पत्तिशाली पुरुष (कृपणम्) निर्धन को (साधु न पश्यति) अच्छे भावों से नहीं देखता। ठीक है, (अन्धकारस्थायी) अन्धकार में ठहरा हुआ मनुष्य (प्रकाश-स्थितम्) उजाले में ठहरे हुए पुरुष को (यथा) जिस प्रकार (ईक्षते) देख लेता है; (तथा) उसी प्रकार (असौ) उजाले में स्थित पुरुष (तमःस्थम्) अँधेरे में स्थित पुरुष को (न ईक्षते) नहीं देख पाता।

भावार्थ — हे प्रभो! संसार के श्रीमान, निर्धन पुरुषों को बुरी दृष्टि या निगाह से देखते हैं, पर आप श्रीमान होते हुए भी ज्ञानादि सम्पत्ति से रहित मनुष्यों को बुरी निगाह से नहीं देखते, बल्कि उन्हें भी अपनाकर हित का उपदेश देकर सुखी करते हैं; अतः इस तरह आप संसार के अन्य श्रीमन्तों से भिन्न ही श्रीमान हैं। इस तरह दोनों की श्रीलक्ष्मी में भेद है। उनके पास रुपया, पैसा, चाँदी, सोना वगैरह जड़ लक्ष्मी है; पर आपके पास अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप अनन्त चतुष्टयमय लक्ष्मी है।

काव्य - २१ पर प्रवचन

इक्कीसवीं गाथा (काव्य)।

श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः,
श्रीमान्न कश्चित्कृपणं त्वदन्यः।
यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायी
क्षतेऽसौ न यथा तमःस्थम् ॥

धनिकों को तो सभी निधन, लखते हैं, भला समझते हैं।
पर निधनों को तुम सिवाय जिन, कोई भला न कहते हैं॥
जैसे अन्धकारवासी, उजियाले वाले को देखें।
वैसे उजियाला वाला नर, नहिं तमवासी को देखे॥

दृष्टान्त दिया है, दृष्टान्त। हे भगवान! हे परमात्मा! इस प्रकार पूर्णानन्द को लक्ष्य में लेकर, हे सर्वज्ञप्रभु! ऐसे अपने सर्वज्ञस्वभाव को दृष्टि में लेकर और सर्वज्ञ भगवान की स्तुति करते हैं। हे महाराज! हे नाथ! **निर्धन पुरुष लक्ष्मी से श्रेष्ठ अर्थात् सम्पन्न मनुष्य को अच्छी तरह आदरभाव से देखता है....** क्या कहते हैं? लक्ष्मीरहित पुरुष— निर्धन (पुरुष) लक्ष्मीवान को भले प्रकार आदर से देखता है। **किन्तु आपके अलावा कोई सम्पत्तिशाली पुरुष...** आपसे भिन्न अज्ञान की सम्पत्ति, यह धूल की, लक्ष्मी, इज्जत-कीर्ति की सम्पत्तिवाले **निर्धन को अच्छे भावों से नहीं देखता।** वे निर्धन को अच्छे भाव से नहीं देखते। क्या कहा, समझ में आया इसमें?

निर्धन पुरुष....यह संसार की बात ली है। वे सधन को दूसरी दृष्टि से देखते हैं कि यह मुझसे बड़े और यह अच्छे। इस प्रकार अच्छी दृष्टि से (देखते हैं)। परन्तु सधन पुरुष निर्धन को गरीबरूप से गिनकर किसी गिनती में नहीं लेते। समझ में आया? **कोई सम्पत्तिशाली पुरुष....** गरीब को **अच्छे भावों से नहीं देखता। ठीक है, अन्धकार में ठहरा हुआ मनुष्य उजाले में ठहरे हुए पुरुष को जिस प्रकार देख लेता है;....** यह तो दृष्टान्त लौकिक का दिया। अन्धकार में अर्थात् जो बाहर की सम्पदारहित वे बाहर की

सम्पदावाले को देख लेते हैं। **उसी प्रकार उजाले में स्थित पुरुष अँधेरे में स्थित पुरुष को नहीं देख पाता।** परन्तु सम्पत्तिशाली पुरुष निर्धन को नहीं देखता। सम्पत्तिशाली पुरुष। वह अन्धकार और उजाले का दृष्टान्त।

परन्तु आप तो हे श्रीमान्! उससे आपमें अलग विलक्षणता है। आप तो श्रीमान्— स्वरूपलक्ष्मी अनन्त ज्ञानादि होने पर भी, निर्धन जो अज्ञानी प्राणी उसके हितकर के लिये आपकी दिव्यध्वनि का उपदेश आता है। आपकी बात ही दूसरे श्रीमानों से निराली है। सेठी! समझ में आया इसमें? एक (भजन) आता है न? उसमें यह आता है, देवचन्दजी में एक आता है।

प्रभु तुम जाणग रीति, सहू जग देखता हो लाल....
निज सत्ता से शुद्ध सहू को पेखता हो लाल....

'प्रभु तुम जाणग रीति....' हे सर्वज्ञ परमात्मा! आपकी ज्ञान की कोई रीति ऐसी है कि 'सहू जग देखता हो लाल, निज सत्ता से शुद्ध सहू को पेखता हो लाल....' हे परमात्मा! जगत के प्राणी आत्मा निज सत्ता से शुद्ध सच्चिदानन्द मूर्ति है, ऐसा आप देख रहे हो। सधन लक्ष्मीवाले अनन्त ज्ञानी परमात्मा उस निर्धन की सम्पत्ति को अन्दर में देख रहे हैं। पर्याय में नहीं परन्तु उसका स्वरूप सम्पदा से भरपूर है, ऐसा भगवान देख रहे हैं। प्रभु! जगत के श्रीमान् से आपकी श्रीमान् की लक्ष्मी कोई अलग प्रकार की है। वे श्रीमान् निर्धन को गिनती में नहीं गिनते।

गिनती में निर्धन श्रीमान् को गिनता है लौकिक में। परन्तु आप तो श्रीमान्! अनन्त ज्ञान, दर्शन और आनन्द के धनी, वह अश्रीमान् जो अज्ञानी पामर पर्याय में है, उसे भी आप गिनती में गिनते हो कि प्रभु! वह भी परमात्मस्वभाव है। सेठी! 'सर्व जीव है सिद्धसम'। वह भी परमात्मस्वरूप है। भूल एक पर्याय में है, वस्तु में नहीं। ऐसा आप सर्वज्ञपद में श्रीमान् अनन्त ज्ञान के धनी, ऐसे निर्धन को भी आप इस प्रकार देखते हो। और लक्ष्मीवाले निर्धन की गिनती नहीं करते। प्रभु! आपका श्रीमान्पना लौकिक के श्रीमानपने से कोई अलग प्रकार का है। यह अन्तर करते हैं। वे लक्ष्मीवाले लिखते हैं न तुम्हारे? श्रीमान्। नहीं आता? पत्र में लिखते हैं या नहीं? धूल के लक्ष्मीवाले हों,

उन्हें लिखते हैं या नहीं ? श्रीमान्। नवनीतभाई! कहते हैं, वह ऊपर से बात करते हैं।

हे प्रभु! जगत के श्रीमान्, वे तो जगत के श्रीमान् न हों उन्हें हल्की दृष्टि से देखते हैं, हों! परन्तु आपकी कोई रीति ही निराली लगती है। आपका स्वरूप अनन्त ज्ञान और दर्शन और आनन्द से भरपूर द्रव्य में था, वह पर्याय में आपने प्रगट किया, ऐसा हमें विश्वास हुआ है। हमें ऐसा विश्वास हुआ है। वह विश्वास सम्यग्दर्शन है, उससे हम ऐसा मानते हैं कि आप पूर्ण होने पर भी सभी प्राणियों को अन्तर सत्ता से शुद्ध की लक्ष्मी से आप देख रहे हैं। आप दूसरे को नहीं गिनते और गिनती बाहर कर डालते हो—ऐसा है नहीं। सेठी! यह अपनी सत्ता के माहात्म्य में गीत गाते हैं। हमारी सत्ता चैतन्यप्रभु अनन्त आनन्द और शान्ति से भरपूर है। वह हमारी नजरों से देखते हैं। इसी प्रकार भगवान! तुम भी दूसरे प्राणी को नजर से इस प्रकार देखते हो।

भावार्थ :- हे प्रभो! संसार के श्रीमान, निर्धन पुरुषों को बुरी दृष्टि या निगाह से.... बुरी अर्थात् गिनती में लेते नहीं। भावार्थ है न? **पर आप श्रीमान होते हुए भी ज्ञानादि सम्पत्ति से रहित मनुष्यों को बुरी निगाह से नहीं देखते,....** बुरी निगाह से नहीं देखते हैं, वे तो भगवान हैं। वे प्रभु हैं, प्रभु हैं। वह पर्याय में भूला है परन्तु वस्तु में भूल नहीं। वस्तु में नहीं, गुण में नहीं, शक्ति—स्वभाव में कहीं भूल की गन्ध नहीं। समझ में आया? देखो! यह चैतन्य के गीत गाते हैं, हों! यह। इस प्रकार अपने को ऐसा मानते हैं कि अहो! हमारा द्रव्यस्वभाव और गुणस्वभाव तीन काल-तीन लोक में भूलरहित है। उसमें भूल है नहीं। वह पर्याय में भूल है। प्रभु! उसे हम नहीं देखते। हम तो निर्भूल चैतन्य है, उसे देखते हैं। समझ में आया? हम सदोषता को नहीं देखते। वर्तमान की सदोषदशा अल्प है, उसे हम नहीं देखते। हम तो निर्दोष सच्चिदानन्द निधान आत्मा, प्रभु! उसकी नजर से हम तो पवित्रता को ही देखते हैं। समझ में आया? देखो! यह चैतन्य की भक्ति और यह भगवान की भक्ति।

उन्हें भी अपनाकर हित का उपदेश देकर सुखी करते हैं;.... अज्ञानी मनुष्य को अपना जानकर अर्थात् उसे उपदेश देते हैं। **इस तरह आप संसार के अन्य श्रीमन्तों से भिन्न ही श्रीमान हैं। इस तरह दोनों की श्रीलक्ष्मी में भेद है।** दोनों की श्रीलक्ष्मी में भेद

जो ठहरा। **उनके पास रुपया, पैसा, चाँदी, सोना....** हीरा और माणेक जड़-जड़। **पर आपके पास अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप अनन्त चतुष्टयमय....** स्वरूप मुझमें ऐसा पड़ा है अनन्त चतुष्टयस्वरूप। मैंने मात्र प्रतीति और ज्ञान द्वारा उसे जाना है। आपने तो स्थिरता द्वारा उसे प्रगट करके अनन्त चतुष्टय पर्याय में प्रगट किये हैं। कहो, समझ में आया? यह साधन क्या? और कहाँ से प्रगटे? और सब इकट्ठा आता है। यह विकल्प और राग को प्रभु! उसकी कोई कीमत नहीं। उसकी कोई कीमत नहीं। कीमत तो द्रव्यस्वभाव की है। जिसका मूल्यांकन, मूल्यांकन करना, वह ज्ञान की पर्याय में भी दुर्लभ हो गया, ऐसा है। ऐसे ज्ञान की पर्याय चैतन्यमूर्ति भगवान को परखकर जो प्रगट दशा प्रगट होती है, प्रभु! उसकी मूल की कीमत अचिन्त्य है तो तेरे मूल की कीमत का क्या कहना? पूर्ण स्वभाव की कीमत तो कोई पर्याय द्वारा तो पूरी पड़ सके, ऐसा नहीं है।

कहा है न निर्मल? उसमें कहा नहीं? नियमसार नहीं? चार भाव से अगम्य आत्मा है। ले! क्या कहा यह? नियमसार! पद्मप्रभमलधारिदेव! महापरमागम के जाननेवाले भावलिंगी सन्त। एक बार ऐसा कहा कि अरे...! उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक जो चार पर्याय है, उसे तू प्रभु गम्य नहीं, हों! अर्थात्? उसके आश्रय से तू प्रगट हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया इसमें कुछ? क्षायिकभाव को गम्य नहीं। ओहोहो! वे तो कहते हैं कि इस टीका में भूल की है। सुन न अब। गम्य नहीं अर्थात् उसका अचिन्त्य माहात्म्य जो है, वह चार भाव प्रगट हुए और क्षायिक समकित प्रगट हुआ, स्वभाव की प्रतीति लेने से प्रगट हुआ, उसके आश्रय से नयी निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। इसलिए कहते हैं, चार भाव के आश्रय से तू गम्य नहीं है। तू तो तू, तेरे गम्य है। समझ में आया? यह परमपारिणामिक चैतन्य कारणप्रभु के यह गीत हैं।

काव्य २२

स्ववृद्धिनिःश्वास-निमेषभाजि,
प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः।
किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोध-
स्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः॥

निज शरीर की वृद्धि, श्वास-उच्छ्वास और पलकें झपना।
ये प्रत्यक्ष चिह्न हैं जिसमें, इतना भी अनुभव अपना॥
कर न सकें जो तुच्छबुद्धि वे, हे जिनवर! क्या तेरा रूप।
इन्द्रियगोचर कर सकते हैं, सकल ज्ञेयमय ज्ञानस्वरूप?॥

अन्वयार्थ — (प्रत्यक्षम्) यह प्रकट है कि (यः) जो मनुष्य (स्ववृद्धिनिःश्वास-निमेषभाजि) अपनी वृद्धि, श्वासोच्छ्वास और आँखों की टिमकार को प्राप्त (आत्मानुभवे अपि) अपनी आत्मा के अनुभव करने में भी (मूढ़ः) मूर्ख है, (स लोकः) वह मनुष्य, (अखिलज्ञेयविवर्त्तिबोधस्वरूपम्) सम्पूर्ण पदार्थों की सम्पूर्ण पर्यायों को जाननेवाला (अध्यक्षम्) सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान को अर्थात् हे प्रभु! आपको (किं च अवैति) कैसे जान सकता है?

भावार्थ - भगवन्! जो मनुष्य अपने आपको स्थूल चिह्नों से भी जानने में समर्थ नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप तथा आत्मा में विराजमान आपको कैसे जान सकता है? अर्थात् नहीं जान सकता।

काव्य - २२ पर प्रवचन

बाईस।

स्ववृद्धिनिःश्वास-निमेषभाजि,
प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः।
किं चाखिलज्ञेयविवर्तिबोध-
स्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः॥

हिन्दी।

निज शरीर की वृद्धि, श्वास-उच्छ्वास और पलकें झपना।
ये प्रत्यक्ष चिह्न हैं जिसमें, ऐसा भी अनुभव अपना॥
कर न सकें जो तुच्छबुद्धि वे, हे जिनवर! क्या तेरा रूप।
इन्द्रियगोचर कर सकते हैं, सकल ज्ञेयमय ज्ञानस्वरूप?॥

अन्वयार्थ — यह प्रकट है कि जो मनुष्य अपनी.... शरीर की वृद्धि। वह शरीर में समय-समय में वृद्धि होती है, उसे अज्ञानी देख नहीं सकता। क्या कहते हैं? यह नजदीक की सम्पदा जो इस शरीर की, उसकी वृद्धि को भी वह देख नहीं सकता। समझ में आया इसमें? शरीर बढ़ता है समय-समय में, मिनिट में, खबर है उसे? जो मनुष्य अपनी वृद्धि—इस शरीर की बात है, हों! **श्वासोच्छ्वास....** यह श्वासोच्छ्वास भी दिखाई नहीं देता, कहते हैं। समीप में रही हुई श्वास की क्रिया भी ज्ञात नहीं होती और **आँखों की टिमकार को प्राप्त....** आँखें ऐसे-ऐसे होती है, उसे आँख देख नहीं सकती। ऐसे-ऐसे हो वह नजदीक के अवयवों की क्रिया भी जो देख नहीं सकता.... समझ में आया?

अपनी आत्मा के अनुभव करने में भी मूर्ख है,.... यह पर्याय जो बाहर की है, नजदीक की है, कायम चलती है श्वास और आँख (की टिमकार), उसे भी वह मूर्ख देख नहीं सकता। **वह मनुष्य, सम्पूर्ण पदार्थों की सम्पूर्ण पर्यायों को जाननेवाला सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान को अर्थात् हे प्रभु! आपको कैसे जान सकता है?** समझ में आया? अहो! तेरी अचिन्त्य महिमा! कहते हैं कि उसका भी जिसे ज्ञान नहीं और ऐसा कहे कि यह आत्मा ऐसा है और आत्मा ऐसा है। शरीर के समीप की श्वास की क्रिया वृद्धिगत हुई कि वर्ष में कितने ऊँचे गये? कब से? कितने, खबर है? आपने को तो कुछ खबर नहीं पड़ती। कुछ ऊँचे दूसरे करते हैं कि पर के करने से तुम दो अंगुल ऊँचे हुए। सेठी! शरीर की ऊँचाई, श्वास की क्रिया और आँख के टिमकार—तीनों लिये पूरे। ऐसी अवस्था को भी नहीं देखनेवाले वे मूर्ख लोग आत्मा को किस प्रकार जाने? कहते हैं। समझ में आया?

इसी प्रकार वर्तमान विकल्प और पुण्य-पाप के राग, उसकी क्या चीज़ और

कैसा प्रकार है ? उसे जानते नहीं, उसके बन्ध के भाव को जानते नहीं। उसे अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा प्रभु! वह किस दृष्टि से उसका ज्ञान करेगा ? समझ में आया ? यह बाहर में शरीर का लिया, अन्दर में विकल्प है, वह कार्मणशरीर है। शुभ-अशुभभाव होते हैं। उन्हें भी यह बन्धरूप से है, ऐसा नहीं जानता, उसका ज्ञान जिसे नहीं, उसे बन्धरहित भगवान चैतन्य अबन्ध परिणामी स्वभाव, हे भगवान! उसे वह नहीं देख सकता। उसका ज्ञान वह नहीं कर सकेगा। तेरी कोई लीला अचिन्त्य निराली है। समझ में आया ? यह अलग प्रकार की स्तुति धनंजय की है। धनंजय है न ?

भावार्थ :- भगवन्! जो मनुष्य अपने आपको स्थूल चिह्नों से भी जानने में समर्थ नहीं है,.... इस शरीर की पर्याय और रागादि की दशा, विकार आदि की दशा, उसका जिसे सच्चा ज्ञान नहीं, उसकी भी जिसे सच्ची पहिचान नहीं, **वह ज्ञानस्वरूप तथा आत्मा में विराजमान आपको कैसे जान सकता है ?** ओ भगवान! समझ में आया ? अकेला चिदानन्द निर्विकल्प प्रभु! उसमें इसकी दृष्टि कहाँ जाए ? अभी इतना भी इसे जँचता नहीं कि यह राग पुण्य का कारण, बन्ध का कारण मलिन है, विकार है, विभाव है, यह सड़ा हुआ अंग है। नवनीतभाई! उसे भी जो कोई ज्ञान में नहीं लेता, यह कहते हैं कि मुझे आत्मा ख्याल में और अनुभव में आया है। मूढ़ लगता है। तुझे चैतन्य की पहिचान है नहीं। **अर्थात् नहीं जान सकता।** कहो, समझ में आया ?

अथवा बाहर से लो अन्तर में तो पर्याय का ज्ञान भी जिसे वास्तविक नहीं, उसे द्रव्य का ज्ञान यथार्थरूप से नहीं हो सकता। एक समय की व्यक्त पर्याय, एक समय की व्यक्त अर्थात् प्रगट पर्याय, वह भी कैसी ? और स्वतन्त्र कैसे है ? उसकी जिसे खबर नहीं, उसे अव्यक्त भगवान पूरा आत्मा जो पर्याय में प्रगट नहीं, एक समय के अनन्त गुण की पर्याय और विकार कैसे स्वतन्त्र और किस प्रकार से है, उसकी भी जिसे खबर नहीं, भगवान! प्रगट की खबर नहीं, उसे अप्रगट की श्रद्धा कहाँ से हो ? समझ में आया ? क्या कहा इसमें ? नेमिदासभाई! क्या कहा परन्तु यह ?

कहते हैं, प्रगट पर्याय प्रगट होती है विकारी या उघाड़ जितना ज्ञानादि का उघाड़, दर्शन का, वीर्य का। उसकी भी जिसे स्वतन्त्रता के सत् की पहिचान, श्रद्धा

नहीं.... समझ में आया ? उसे पूरा भगवान आत्मा स्वयंसिद्ध अकृत्रिम अखण्डानन्द प्रभु ऐसे द्रव्य के स्वभाव की श्रद्धा की कीमत उसे किसी प्रकार नहीं होती। समझ में आया ? इसलिए हे प्रभु! तेरी अन्तर की लीला, उसका माहात्म्य कोई अलौकिक है ! ऐसा कहकर भगवान के गीत अर्थात् आत्मा के गीत यहाँ गाते हैं, हों!

विषापहार—अनादि का जहर चढ़ा है, वह अमृतकुण्ड को अवलोकन करने से, भगवान अमृत का कुण्ड-सरोवर, उसे अवलोकन करने से उसके विकार का नाश होता है, निर्विकारी दशा प्रगट हो, उसका क्या माहात्म्य कहें ? उसके पूर्णानन्द के स्वभाव की क्या बात करना ? विकल्पातीत—चिन्तवन में न आवे, ऐसा तेरा स्वभाव है।

काव्य २३

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव
त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं
पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति॥

'उनके पिता', 'पुत्र हैं उनके', कर प्रकाश यों कुल की बात।
नाथ! आपकी गुण-गाथा जो, गाते हैं रट-रट दिनरात॥
चारु चित्तहर चामीकर को, सचमुच ही वे बिना विचार।
उपल-शकल से उपजा कहकर, अपने कर से देते डार॥

अन्वयार्थ — (देव) हे नाथ! (ये) जो मनुष्य, आप (तस्य आत्मजः) उनके पुत्र हो और (तस्य पिता) उनके पिता हो (इति) — इस प्रकार (कुलम् प्रकाश्य) कुल का वर्णन कर (त्वाम् अवगायन्ति) आपका अपमान करते हैं, (ते) वे (अद्य अपि) अब भी (पाणौ कृतम्) हाथ में आये हुए (हेम) सुवर्ण को (आश्मनम्) पत्थर है या पत्थर से पैदा हुआ है, (इति) इस हेतु से (पुनः) फिर (अवश्यं त्यजन्ति) अवश्य ही छोड़ देते हैं ?

भावार्थ — एक तो सुवर्ण हाथ नहीं लगता, यदि किसी तरह हाथ लग भी जावे तो उसे यह सोचकर कि इसकी उत्पत्ति पत्थरों से हुई है, फिर फेंक देना मूर्खता है। इसी तरह आपका श्रद्धान व ज्ञान सबको नहीं होता। यदि किसी को हो भी जावे तो वह आपको मनुष्यकुल में पैदा बतलाकर पुनः छोड़ देता है, यह सबसे बढ़कर मूर्खता है। सुवर्ण यदि शुद्ध है, चाहे वह पत्थर से नहीं, दुनिया के और किसी हल्के पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो तो भी बाजार में उसकी कीमत पूरी ही लगेगी और यदि वह मैलसहित है, अशुद्ध है तो किसी अच्छे पदार्थ से उत्पन्न होने पर भी उसकी पूरी कीमत नहीं लग सकती।

इस प्रकार जो आत्मा शुद्ध है, कर्ममल से रहित है; भले ही उस पर्याय में नीचकुल में पैदा हुआ हो, वह पूज्य कहलाता है और यदि वही आत्मा उच्चकुल में पैदा होकर भी अशुद्ध है, मलिन है तो भी उसे कोई पूछता भी नहीं है।

काव्य - २३ पर प्रवचन

तेईस।

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव
त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं
पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति॥

'उनके पिता', 'पुत्र हैं उनके', कर प्रकाश यों कुल की बात।
नाथ! आपकी गुण-गाथा जो, गाते हैं रट-रट दिनरात॥
चारु चित्तहर चामीकर को, सचमुच ही वे बिना विचार।
उपल-शकल से उपजा कहकर, अपने कर से देते डार॥

हे भगवान! हे आदिश्वरनाथ! और धर्म की आदि का करनेवाला द्रव्य स्वयं चैतन्यनाथ! धर्म की आदि करनेवाला भगवान आत्मा ध्रुव है। इस प्रकार आदिनाथ भगवान इस चौबीसी के आदिनाथ हैं। **हे नाथ! जो मनुष्य, आप उनके पुत्र हो....** आपकी

पहिचान नाभिराजा के पुत्र। ऐसी पहिचान करके पहिचान करावे। प्रभु! यह बात सत्य नहीं है। समझ में आया? महात्मा धर्मात्मा केवलज्ञानी परमात्मा! उन्हें इनके पुत्र, अरे! पुत्र तो शरीर की अपेक्षा से है। आत्मा में कहाँ था? उन्हें—भगवान को उनके परिवार से पहिचान कराना, वह भूल करता है। सेठी! यह पढ़ा है या नहीं? परन्तु तुम तो कहते थे कि पाँच स्तोत्र करते थे प्रतिदिन। परन्तु तुम प्रतिदिन करते थे, ऐसा कोई कहता था। पाँच स्तोत्र प्रतिदिन (करे), इसलिए दूसरी स्वाध्याय नहीं होती। उसी और उसी में सवेरे से शाम समय मिले थोड़ा, उसमें जाता है।

हे नाथ! उनके पुत्र हो और भरत चक्रवर्ती के पिता हो। नाभिराजा के पुत्र और भरत के पिता। प्रभु! **इस प्रकार कुल का वर्णन कर आपका अपमान करते हैं,....** समझ में आया? आप कुलस्वरूप नहीं हैं। उस कुल से आप उपजे नहीं। आपकी शुद्ध परिणति द्रव्य से उत्पन्न हुई है। आपकी शुद्ध परिणति अनन्त ज्ञान, आनन्द आदि, वह द्रव्य से उत्पन्न हुई है, वह द्रव्य उसका मूल कुल है और तुम उन्हें शरीर द्वारा पहिचानना, कुटुम्ब द्वारा पहिचानना कि अमुक के पुत्र और अमुक के पिता और अमुक का पति और उसका भाई, हें! बेटा और मित्र। नहीं, नहीं। अरे! उसे आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा की पहिचान की पद्धति नहीं आयी, हों! कहते हैं। उसकी रीति नहीं आयी। फिर.... में घटित करेंगे।

वे अब भी हाथ में आये हुए सुवर्ण को.... आया हाथ में सोना परन्तु **पत्थर से पैदा हुआ है,....** अरे! सोना है न, पत्थर की खान में से पैदा हुआ, छोड़ उसे। पत्थर की खान में से सोना आया, ऐसा करके सोने को छोड़ देता है, वह बड़ा मूर्ख है। इसी प्रकार आपको कुल द्वारा पहिचान करावे—बाप-बेटा द्वारा, परन्तु चैतन्यधातु अनन्त आनन्द का कन्द, उसकी निर्मलानन्द पर्याय द्रव्य से प्रगट हुई—कुल, उसका कुल वहाँ है, वहाँ से वह पर्याय प्रगटी है। आप किसी की प्रजा नहीं, आप किसी के पिता नहीं। समझ में आया? क्या सेठी! बाबूभाई तो तुम्हें बहुत कहते हैं। पिताजी साहेब को प्रार्थना की थी कि वहाँ पधारो, ऐसा कहते थे। पिताजी-बिताजी नहीं, ऐसा कहते हैं। अरे! यह गजब बात! हें!

मुमुक्षु : भगवान की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा की बात है। दूसरी बात अभी बाद में लेते हैं। इस प्रकार जो कोई अज्ञानी यह शरीर की क्रिया और विकल्प की क्रिया से आत्मा को पहिचान कराता है, वह बड़ा मूढ़ है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जिस प्रकार वह भगवान की कुल से पहिचान करावे, वह भूले हुए हैं। वे भगवान किसी के कुल में उपजे नहीं और किसी के कुल के पिता हैं नहीं।

अचिन्त्य प्रभु आत्मा! अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध प्रभु, उसकी निर्मल पर्याय भी आत्मा के अन्दर से प्रगट हुई है। उसके कुल की खान तो आत्मद्रव्य है। उसे ऐसा कहना कि भगवान को यह कुल था और भगवान के यह पिता थे, बहुत भूले हैं। भूल में पड़े हैं, कहते हैं। समझ में आया? इसी प्रकार शरीर की स्तुति द्वारा आत्मा की स्तुति करना.... समझ में आया? लो, आया है न समयसार में? नहीं, नहीं। प्रभु! तुझे पीला कहना और रंग से कहना और श्वेत कहना और यह कहना, दिव्यध्वनि के दातार कहना, यह सब शरीर की स्तुति द्वारा, भगवान, आपकी स्तुति मानते हैं, वे महा भूल में पड़े हैं। समझ में आया? आपकी स्तुति तो आपके गुण की परिणति की भक्ति से होती है। बाकी किसी प्रकार स्तुति नहीं होती। सेठी! गजब बात, भाई!

एक तो सुवर्ण हाथ नहीं लगता,.... अब जरा इसका भावार्थ करते हैं। **यदि किसी तरह हाथ लग भी जावे तो उसे यह सोचकर कि इसकी उत्पत्ति पत्थरों से हुई है,....** पत्थर की खान में से सोना उत्पन्न हुआ, **फिर फेंक देना मूर्खता है।** फेंक डालता है। अरे! यह तो पत्थर से उत्पन्न हुआ है। **इसी तरह आपका श्रद्धान व ज्ञान सबको नहीं होता।** आपके श्रद्धान-ज्ञान क्या है, इसकी खबर नहीं। **यदि किसी को हो भी जावे तो वह आपको मनुष्यकुल में पैदा बतलाकर पुनः छोड़ देता है,....** क्या कहते हैं? कि सर्वज्ञपद मनुष्यभव में? भाई! ऐसा कहते हैं न? मनुष्य में तो अल्पज्ञ ही हो सकता है। एक सर्वज्ञ परमात्मा ईश्वर है, वह सर्वज्ञ हो। मनुष्य? मनुष्य? मनुष्यभव में सर्वज्ञ नहीं होते, अल्पज्ञ ही होते हैं। ऐसे लेख आये थे। अखबार में जैन नाम के लेख में भी आये थे। वेदान्त की बात करता हूँ। देखो सर्वज्ञ। .... कहो, समझ में आया? क्या कहा?

मनुष्य अल्पज्ञ ही रह सकता है। इस प्रकार मनुष्य की कीमत से आत्मा की कीमत की, वह मूर्ख है, कहते हैं। आत्मा मनुष्य ही नहीं। आत्मा देव नहीं, आत्मा बादर, पर्याप्त, सूक्ष्म कुछ है नहीं। वह विकल्पातीत और विकल्प और शरीर की परीक्षा से उसे अल्पज्ञ मानना और उसे उनसे अधिक हो सकेगा, ऐसा उसका भान अज्ञानी मूर्ख करता है। मनुष्य है, इसलिए सर्वज्ञ नहीं हो सकता, ऐसा नहीं हो सकता। सर्वज्ञ परमात्मा आत्मा मनुष्यदेह में हो सकता है। सम्पूर्ण वीतराग हो, वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है। आत्मा अखण्ड एक द्रव्य होने से उसका ज्ञानसामर्थ्य सम्पूर्ण है। ज्ञानसामर्थ्य सम्पूर्ण है, उसकी प्रतीति और अनुभव करने से वीतराग होने पर वह सर्वज्ञपद मनुष्यदेह में प्राप्त कर सकता है। मनुष्यदेह के कारण नहीं परन्तु मनुष्य में था, इसलिए सर्वज्ञ नहीं हो सकता, ऐसा नहीं है। था नहीं मनुष्य में। वह तो अपने द्रव्य में ही था। वह द्रव्य के स्वभाव की दृष्टि और अनुभव करने से, मनुष्यदेह भले निमित्तरूप से हो परन्तु मनुष्य के कारण केवलज्ञान प्राप्त करता है, ऐसा कहनेवाले, आत्मा की पहिचान नहीं कर सकते। जो कुल और शरीर से भक्ति करके उसमें सर्वस्व मान रहे हैं। ले! क्या और गया?

शरीर की क्रिया और राग की क्रिया द्वारा आत्मा को पहुँच जाऊँगा, ऐसा माननेवाले चैतन्य की क्रिया को समझते नहीं। कुल की परीक्षा से.... इस मनुष्यदेह में था, इसलिए केवलज्ञान नहीं पा सकता है, ऐसा माननेवाले को आत्मा की खबर नहीं है। मनुष्यपने में भी सर्वज्ञपद सम्पूर्ण सामर्थ्य मेरा है, ऐसा भान हुआ, विश्वास में लाकर स्थिरता द्वारा, मनुष्यदेह होने पर भी, मनुष्यदेह के कारण नहीं, मनुष्यदेह होने पर भी मनुष्यदेह के कारण नहीं, अन्तर आत्मा के अवलम्बन से, सर्वज्ञपद में मनुष्यदेह में प्रगट हो सकता है। उसने आत्मा की वास्तविक स्तुति की। बाकी यह मनुष्य था न, बनिया में जन्मा था न, बनिया में जन्मा था न, ब्राह्मण था न। अब सुन न अब। कितने ही यह कहे, बनिया न? बनिया केवल (ज्ञान) पावे? अरे! सुन! बनिया कब आत्मा था? सेठी! और वह तो पहले से निर्धन था। खबर नहीं? पहले से उठा तब से निर्धन। पैसा नहीं था, बुद्धि थोड़ी और सात कक्षा पढ़ा हुआ। अब उसे केवलज्ञान हुआ? अरे! सुन न अब तू। समझ में आया इसमें? कल का लकड़हारा हो, लकड़ी बेचने आवे न,

जहाँ दूसरे दिन केवलज्ञान पावे वहाँ... अरे! लकड़हारा केवलज्ञान (पाया)! सुन न! आत्मा लकड़हारा कब था? समझ में आया? और लक्ष्मी बिना का निर्धन आत्मा कब था? आत्मा को बाहर के कारण से पहिचानना, वे मूढ़ जीव हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अरे! उसका शरीर तो रोगी का था। उसका निर्बल था, जीर्ण काठी शरीर की थी। उसे केवलज्ञान होगा? समझ में आया? यह उसे केवलज्ञान हो, सुन न! वह आत्मा से, आत्मा को होता है; किसी पर के कारण नहीं होता। समझ में आया?

अथवा शरीर में संहनन मजबूत हो तो भगवान को—आत्मा को केवलज्ञान होता है। ऐसी पहिचान करानेवाले मूढ़ जीव हैं। वे आत्मा के माहात्म्य को नहीं समझ सके। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भाई! यह तो शरीर संहनन मजबूत हो न, बारह महीने कायोत्सर्ग रह सके। बाहुबलीजी रहे, लो! शरीर मजबूत बिना ध्यान किस प्रकार होगा? सेठी! ऐसा करके शरीर की मजबूताई से आत्मा की लक्ष्मी प्रगट नहीं होती और मजबूत हो तो होती है, ऐसा कहनेवाले आत्मा की शक्ति और आत्मा के भान से भूले हुए हैं। भगवान! उसे आपकी भक्ति और आत्मा की भक्ति नहीं आती। समझ में आया?

यदि किसी को हो भी जावे तो वह आपको मनुष्यकुल में पैदा बतलाकर पुनः छोड़ देता है,.... अरे! मनुष्य थे न वे तो, मनुष्य थे न, उसमें क्या है? बालक थे न, पहले ऐसे नहीं थे? ऊं... ऊँ... करते और चलते हुए गिर जाते न.... पहले तो ऐसे हिलने में शरीर लथड़िया खाये, वह? वह केवलज्ञान पावे? अब सुन न! केवलज्ञान वह नहीं पाया—शरीर, शरीर के कारण नहीं पाया। चैतन्यज्योति जलहल ज्योति में नजरें लगाने से, उस निधान को देखने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। आत्मअवलोकन करते...

उसमें नहीं आता? श्रीमद् में भी आता है न? 'आतमभावना भावता लहिये केवलज्ञान' नहीं आता? जीव लहे केवलज्ञान रे। उसे रट रखे परन्तु उसका अर्थ क्या है? 'आतमभावना भावता जीव लहे केवलज्ञान रे...' इस शरीर की भावना और विकल्प की भावना भाते हुए आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करे, ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है।

यह सबसे बढ़कर मूर्खता है। सुवर्ण यदि शुद्ध है, चाहे वह पत्थर से नहीं, दुनिया के और किसी हल्के पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो तो भी बाजार में उसकी कीमत

पूरी ही लगेगी.... स्वर्ण की तो पूरी कीमत मिलेगी। समझ में आया? यह मोरपींछी है न? मोर... मोर। मोर के पंख में ताँबा होता है। लाल लाल दिखता है न? वह ताँबा है। उसका रस निकालकर उसे क्षय पर देते हैं। उसमें से ताँबे का रस, ऐसी उसकी ताँबे की भस्म हो कि क्षयवाले को (टीबी वाले को) पुण्य का उदय हो और असाता का न हो तो वह उसे दे और मिट जाये। उसकी कीमत उस वैद्य को होती है कि इसमें ताँबे की धातु है। अज्ञानी मोरपिच्छी पक्षी का एक निकाला हुआ... बारह महीने में निकाल डाले न, पंख निकाल डाले। वह तो पंख। यह तो वह मोर नहीं? ऐसा का ऐसा। अरे! सुन न! उस पंख में उसके ताँबे की जो सामर्थ्य है, वैसी सामर्थ्य बाहर के ताँबे में नहीं हो सकती।

इसी प्रकार आत्मा की ताकत शरीर और विकल्प के कारण प्रगट होती है, ऐसा माननेवाला वह चैतन्यधातु रस पड़ा है, उसे वह भूल जाता है। समझ में आया? कहते हैं कि **किसी हल्के पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो....** ऐसा कहा न? सोना चाहे जहाँ से आया। वह विष्टा में पड़ा हो और सोना पकड़ में आया। चावल कहीं पड़े हों और सोना हाथ आ गया। कीमत चली जाती होगी उसकी? कीमत होती होगी या नहीं? कहाँ से हाथ आया सोना? यह आया उस पायखाने में से आया, चाहे जो हो। नीचे पायखाने में सोने की ईंट पड़ी थी। कौन जाने चाहे जो, परन्तु निकला विष्टा में से, इसलिए उसकी कीमत घट जाती होगी?

इसी प्रकार शरीर विष्टा जैसा और विकल्प भी विष्टा जैसा। पुण्य-पाप के परिणाम विकल्प जहर जैसे हैं। उसमें से चैतन्य भिन्न हाथ आया। समझ में आया? इससे कहीं चैतन्य की कीमत घट जाती है, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया? **बाजार में उसकी कीमत पूरी ही लगेगी और यदि वह मैलसहित है, अशुद्ध है तो किसी अच्छे पदार्थ से उत्पन्न होने पर भी उसकी पूरी कीमत नहीं लग सकती।** मेलवाली चीज़ कोई ऐसी हो और अच्छे में से प्रगट हुई हो तो उसकी कोई कीमत नहीं। इस कोयले में हीरे नहीं पकते? सेठी! कोयले में पकते हैं या नहीं? कोयले की खान में। इसलिए कीमत घट जाये? आसपास कोयला और उसमें से पका हीरा। वह परमाणु की स्वतन्त्र वहाँ

परिणमन दशा दूसरी है। इसी प्रकार यह शरीररूपी कोयला और पुण्य-पाप के मलिन परिणाम, उनमें पड़ा हुआ चिद्घन आत्मा, उनमें रहा हुआ आत्मा प्रगट न हो, ऐसी बात है नहीं। समझ में आया?

इस प्रकार जो आत्मा शुद्ध है, कर्ममल से रहित है; भले ही उस पर्याय में नीचकुल में पैदा हुआ हो,.... चाण्डाल के कुल में उत्पन्न हुआ हो, परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो उसे देव कहने में आता है। आता है न रत्नकरण्ड श्रावकाचार में? देव। अग्नि जैसे रखे दबायी हुई, परन्तु अग्नि तो जलहल अन्दर पड़ी है। इसी प्रकार जिसका शरीर काला-कुबड़ा, काठा ऐसा, अमुक ऐसा। परन्तु चैतन्य अंगारा जिसने अन्दर से प्रस्फुटित हुआ, कहते हैं कि चाण्डाल कुल में उपजा, वह देव है। किसके कारण? कुल के कारण? सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति चैतन्य से जहाँ प्रगट हुई, कहते हैं कि वह देव है। वह देव को भी पूजनीय है। चाण्डाल की देह में रहा हुआ आत्मा प्रगट होता है। सम्यक् साक्षात्कार देव को पूजनीय है। उसकी कीमत कम नहीं आंकी जाती कि हल्के कुल में जन्मा था, यह बड़े नागर के कुल में, ऐसे शरीर और ऐसे रूपवान के लिये वहाँ कुछ कीमत होगी?—कि नहीं, उसकी कीमत कहीं आत्मा में नहीं है।

भले ही उस पर्याय में नीचकुल में पैदा हुआ हो, वह पूज्य कहलाता है और यदि वही आत्मा उच्चकुल में पैदा होकर भी अशुद्ध है,.... मलिन परिणाम मिथ्या भ्रान्ति करता हो। अरे! ग्यारह अंग का उघाड़, नौ पूर्व का (उघाड़) हो और मिथ्याश्रद्धा करता हो, तो उसकी कोई कीमत है नहीं। और ज्ञान की दशा अल्प हो—थोड़ी हो, तथापि जिसने चैतन्य की कीमत की है, तो उस चैतन्य की कीमत कम हो जाती है, ऐसा नहीं है। २३ (हुई)।

काव्य २४

दत्तश्त्रिलोक्यां पटहोऽभिभूताः
सुरासुरास्तस्य महान्स लाभः।
मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुं
मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः॥

तीन लोक में ढोल बजाकर, किया मोह ने यह आदेश।
सभी सुरासुर हुए पराजित, मिला विजय यह उसे विशेष॥
किन्तु नाथ! यह निबल आपसे, कर सकता था कहाँ विरोध।
वैर ठानना बलवानों से, खो देता है खुद को खोद॥

अन्वयार्थ — मोह के द्वारा (त्रिलोक्याम्) तीनों लोकों में (पटहः) विजय का नगाड़ा (दत्तः) दिया गया अर्थात् बजाया गया; उससे जो (सुरासुराः) सुर और असुर (अभिभूताः) तिरस्कृत हुए, (सः) वह (तस्य) उस मोह का (महान् लाभः) बड़ा लाभ हुआ किन्तु (त्वयि) आपके विषय में (विरोद्धुम्) विरोध करने के लिए (मोहस्य) मोह को (कः) कौनसा (मोहः) भ्रम हो सकता था अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि (बलवद्विरोधः) बलवान के साथ विरोध करना (मूलस्य नाशः) मानो मूल का नाश करना है।

भावार्थ — हे भगवन्! जिस मोह ने संसार के सब जीवों को अपने वश में कर लिया, उस मोह को भी आपने जीत लिया है अर्थात् आप मोहरहित और राग-द्वेष से शून्य हैं।

काव्य - २४ पर प्रवचन

२४ (श्लोक)।

दत्तश्त्रिलोक्यां पटहोऽभिभूताः
सुरासुरास्तस्य महान्स लाभः।

मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुं
मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः॥

क्यों भाई चले गये नरभेरामभाई? चले गये होंगे।

तीन लोक में ढोल बजाकर, किया मोह ने यह आदेश।
सभी सुरासुर हुए पराजित, मिला विजय यह उसे विशेष॥
किन्तु नाथ! यह निबल आपसे, कर सकता था कहाँ विरोध।
वैर ठानना बलवानों से, खो देता है खुद को खोद॥

निर्बल के साथ वैर करना परन्तु इसकी साथ बैर करके मर जायेगा। बड़े के साथ, दीवार के साथ सिर पछाड़ेगा, नीम के पत्ते हिलते हों, वहाँ सिर पछाड़ तो अलग बात है। क्योंकि पत्ता आगे चला जायेगा ऐसे। समझ में आया? वह निर्बल है, पत्ते हिलते हो न? नीम... नीम। थोड़े आगे चलेंगे। परन्तु मजबूत दीवार के साथ सिर फोड़ने (जायेगा तो) सिर फूट जायेगा। इसी प्रकार निर्बल के साथ तुझे वैर करना हो तो भले, परन्तु सबल परमात्मा चैतन्यधातु! सर्वज्ञ परमात्मा के साथ विरोध, तेरे विरोध का नाश कर डालेगा। पानी-पानी करके राख कर डालेगा। इसलिए बड़े के साथ विरोध नहीं हो सकता।

अन्वयार्थ :- मोह के द्वारा तीनों लोकों में विजय का नगाड़ा दिया गया.... मैंने सबको जीता है, मोह कहता है—मैंने सबको जीता है। यह नौवें ग्रैवेयक में गये मुनियों को भी हम क्रिया करते हैं और व्रत पालते हैं और अट्ठाईस मूलगुण पालते हैं और व्यवहार हमारा अच्छा, मोह ने उसे भी मार डाला, कहते हैं। मिथ्यात्व ने उसे जीत लिया। ऐसे त्यागी हुए हजारों रानियों के। समझ में आया? हम अट्ठाईस मूलगुण के पालनेवाले। मिथ्यात्व ने मार डाला उसे। भ्रमणा (की है कि) हम इतना तो करते हैं न? ऐसा तो करते हैं न? ऐसे मिथ्यात्व के अहंकार के कारण सर्वत्र मोह ने विजय प्राप्त की है।

सुर और असुर तिरस्कृत हुए,.... अरे! बड़े देव और असुर तिरस्कार प्राप्त हुए। **वह उस मोह का बड़ा लाभ हुआ....** मोह को बड़ा लाभ हुआ। सबसे मुझे मेरे विजय का लाभ मिला है। **वह उस मोह का बड़ा लाभ हुआ किन्तु आपके विषय में विरोध**

करने के लिए मोह को कौनसा भ्रम हो सकता था.... उसे भ्रम क्या हो कि मैं उसे जीत सकूँगा। समझ में आया? **कोई नहीं, क्योंकि बलवान के साथ विरोध करना मानो मूल का नाश करना है।** ....है न उसमें कहीं शब्द? संस्कृत में है दूसरी लाईन। ....समान के साथ करना, न्यून को अधिकारी करके सिर फूट जायेगा। भगवान चैतन्यधातु, तेरे साथ मोह की विजय हो गयी, तूने मोह का विजय किया। मोह ने दूसरे का विजय किया। परन्तु आपने तो मोह को विजय किया, प्रभु! हे नाथ! तुझमें ही यह सामर्थ्य है। दूसरे में यह सामर्थ्य नहीं। दूसरे बड़े मानधाता भूले हैं। त्यागी हुए, जोगी हुए, मुनि हुए। महा दस-दस घण्टे तक ऐसे ध्यान में रहे। अहंकार (किया)। वह विकल्प की क्रिया होती है, उसे मान बैठा कि हमें इसमें धर्म होता है। इस मिथ्यात्व ने उसे जीत लिया है। परन्तु प्रभु! तूने मिथ्यात्व को जीता। अज्ञान को जीतकर आप सर्वज्ञ और परमात्मा हुए। आपको यह मोह जीत सका नहीं।

मानो मूल का नाश करना है। विरोधी महाबलवन्त साथ में हो.... बैल होता है न बड़ा? सांढ। क्या कहते हैं? खूंटा, खूंटा। सांढ़... सांढ़। कचरे का ढ़ेर हो न? कूड़े का ढ़ेर कहते हैं? क्या कहते हैं? कूड़ा... कूड़ा। सिर मारता है। उसे मानो कि मैं इसे पहुँच गया, हों! परन्तु वह तो पोलंपोला है। वहाँ क्या तू पहुँचा? दीवार के साथ सिर मारे तो सींग टूट जाये ऐसा है। टूट जायेंगे, दीवार अंगुल मात्र भी नहीं हटेगी। समझ में आया? एक मूर्ख की बात नहीं आती? वह बावड़ी की, भाई! आती है न? बावड़ी,... बावड़ी। बड़ी बावड़ी थी न। यह अपने को गाँव से बहुत दूर पड़ती है। पाँच-पचास कदम महिलाओं को (चलना पड़ता है)। इसलिए अपने गाँव की ओर ले जाओ। ऐसे सब मूर्ख इकट्ठे हुए और बावड़ी के सामने का भाग होता है न, उसमें डाले कपड़े-कपड़े। कपड़े डालकर खेंचाखेंच (की)। ....पत्थर नहीं डालते थे अभी? यह ले गये न लाठी। चिल्लाहट पाड़ते थे। पच्चीस-पच्चीस मण के करके। हो... हा (करने लगे)। उसमें वे कपड़े होंगे न, धोतियाँ होंगी न, वे ऐसी गर्दन में डाले हुए। खींचे। पोचा। ऐसे चला। वह फटी न जरा.... एक अंगुल हिला। ऐ... चली यह बावड़ी। धूल में भी चली नहीं। तू मूर्ख है। वह बावड़ी आयी सामने। अरे! कदम जरा ऐसे हुआ न, फटा, वस्त्र फटा जरा ऐसे... होकर। वह... बावड़ी खिसकी, ऐसा कहते हैं न? उसी प्रकार अज्ञानी

मूर्खाई खिसकी। कुछ हम आगे गये हैं, हों! कुछ हम आगे गये। मूर्ख में कहीं गया नहीं। सुन न अब। यह शुभ और अशुभ के विकल्प के जाल में कुछ मैंने आत्मा को पकड़ा था, हों! कुछ मैंने आत्मा को जाना था। बावड़ी खिसकी है। सेठी!

— हे भगवन्! जिस मोह ने संसार के सब जीवों को अपने वश में कर लिया, उस मोह को भी आपने जीत लिया है अर्थात् आप मोहरहित और राग-द्वेष से शून्य हैं। आपकी कीमत मोहरहित करनेवाले कीमत कर सकते हैं। मोह में पड़े हैं, वे प्रभु! आपकी कीमत नहीं कर सकते।

काव्य २५

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेः,
चतुर्गतीनां गहनं परेण।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन
त्वं मा कदाचित् भुजमालुलोकः॥

तुमने केवल एक मुक्ति का, देखा मार्ग सौख्यकारी।
पर औरों ने चारों गति के, गहन पंथ देखे भारी॥
इससे सब कुछ देखा हमने, यह अभिमान ठान करके।
हे जिनवर! नहिं कभी देखना, अपनी भुजा तान करके॥

अन्वयार्थ — (त्वया) आपके द्वारा (एकः) एक (विमुक्तेः) मोक्ष का ही (मार्गः) मार्ग (ददृशे) देखा गया है और (परेण) दूसरों के द्वारा (चतुर्गतीनाम्) चारों गतियों का (गहनम्) सघन वन (ददृशे) देखा गया है, मानो इसीलिए (त्वम्) आपने (मया सर्वं दृष्टम्) मैंने सब कुछ देखा है, (इति स्मयेन) इस अभिमान से (कदाचित्) कभी भी (भुजम्) अपनी भुजाओं को (मा आलुलोकः) नहीं देखा।

भावार्थ — घमण्डियों का स्वभाव होता है कि वे अपने को बड़ा समझकर बार-बार अपनी भुजाओं की तरफ देखते हैं, पर आपने घमण्ड से कभी अपनी भुजाओं की तरफ नहीं देखा। उसका कारण यह है कि आप सोचते थे कि मैंने तो

सिर्फ एक मोक्ष का ही रास्ता देखा है और अन्य सभी देवी-देवता चारों गतियों के रास्तों से परिचित हैं; इसलिए मैं उनके सामने अल्पज्ञ हूँ। अल्पज्ञ का बहुज्ञानियों के सामने अभिमान कैसा ?

श्लोक का तात्पर्य यह है कि हे प्रभु! आप अभिमान से रहित हैं और निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त होनेवाले हैं परन्तु अन्य देवी-देवता अपने-अपने कार्यों के अनुसार नरक आदि चारों गतियों में घूमा करते हैं।

काव्य - २५ पर प्रवचन

पच्चीस।

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेः,
चतुर्गतीनां गहनं परेण।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन
त्वं मा कदाचित् भुजमालुलोकः॥

तुमने केवल एक मुक्ति का, देखा मार्ग सौख्यकारी।
पर औरों ने चारों गति के, गहन पंथ देखे भारी॥
इससे सब कुछ देखा हमने, यह अभिमान ठान करके।
हे जिनवर! नहिं कभी देखना, अपनी भुजा तान करके॥

क्या कहते हैं ? अलंकार ऐसा किया है न जरा!

अन्वयार्थ :- आपके द्वारा एक मोक्ष का ही मार्ग देखा गया है.... प्रभु! आपने तो एक ही मार्ग बतलाया, हों! दो-तीन नहीं बतलाये। एक ही बतलाया है। उसने— मूढ़ ने अनेक बतलाये, ऐसा कहते हैं। क्या कहते हैं ? हे नाथ! आपने तो एक ही मोक्ष का मार्ग बतलाया। एक ही। और दूसरे देवों ने तो चार गति के अनेक मार्ग बतलाये। इसलिए वे बड़े हो गये और आप रह गये छोटे। समझ में आया ?

दूसरे प्रकार से कहे (तो), हे त्रिलोकनाथ परमात्मा! अथवा हे आत्मा! यह तुझमें अनुभव की दृष्टि / श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र एक ही मोक्षमार्ग तूने माना है। और

अज्ञानियों ने तो दो, तीन, चार, पाँच गति में भटकने के मार्ग (माने हैं)। उसे धर्म मानकर मार्ग माना है। व्यवहार भी मोक्षमार्ग है, निमित्त भी मोक्षमार्ग है, देह की क्रिया भी मोक्षमार्ग है। ऐसा मानकर तू तो एक को कहे, वे अनेक को कहे। वे तुझसे बढ़ गये। सेठी! परन्तु **दूसरों के द्वारा चारों गतियों का सघन वन देखा गया है,....** चारों गति में भटकने में सघन वन। वह कहीं गोता खायेगा बबूल के पन्थ में। कहीं रास्ता हाथ आयेगा नहीं। परन्तु मार्ग वहाँ पगडण्डियाँ अनेक हो, हों! प्रभु तेरा मार्ग तो एक ही है, हों! आहाहा! समझ में आया? यह पगडिण्डयाँ मर जाने की, भटकने की, भटक-भटककर चार गति में।

पंचास्तिकाय में आता है न? हे प्रभु! आप तो स्वतन्त्र आत्मा की मुक्ति की लक्ष्मी को प्राप्त कराते हो। चार गति की पराधीनता का आप नाश कराते हो। है न? दूसरी गाथा है, टीका। पंचास्तिकाय। यह है न? कौन सी गाथा है यह? दूसरी। देखो! दूसरी गाथा। देखो!

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमिणं सुणह वोच्छामि॥२॥

हे नाथ! '**शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप 'निर्वाण का परम्परा से कारण' होने से (१) परतन्त्रता निवृत्ति जिसका लक्षण है और (२) स्वतन्त्रता प्राप्ति जिसका लक्षण है, ऐसे फल से सहित हैं।**' आपका उपदेश है। हे भगवान! आपने तो चार गति के नाश का उपाय बताया है। परतन्त्रता के नाश का। अज्ञानी ने चार गति की प्राप्ति का उपदेश बताया है। स्वर्ग तो मिलेगा न? मनुष्य की अपेक्षा तो सुखी होऊँगा न? मूढ़। स्वर्ग में जाकर स्वर्ग के परिणाम की यहाँ प्रशंसा करता है, यह कुदेव ने ऐसा मार्ग बताया है, कुगुरु ने ऐसा मार्ग बताया है। समझ में आया? आपने तो एक धारावाही मार्ग बताया। चार गति की परतन्त्रता का निवारण और निर्वाण की स्वतन्त्रता की उपलब्धि— एक ही मार्ग आपने कहा।

तो कहते हैं, **आपने, मैंने सब कुछ देखा है, इस अभिमान से कभी भी अपनी भुजाओं को नहीं देखा।** घमण्डियों ने स्वयं बहुत मार्ग मैंने बतलाये, ऐसा देखकर मेरे

शरीर में, भुजा में क्या बल है! हाथ को भी वह देखता नहीं।

भावार्थ :- घमण्डियों का स्वभाव होता है कि वे अपने को बड़ा समझकर बार-बार अपनी भुजाओं की तरफ देखते हैं,.... बारम्बार हाथ की ओर देखे। आपने भुजा को देखा नहीं। **आपने घमण्ड से कभी अपनी भुजाओं की तरफ नहीं देखा। उसका कारण यह है कि आप सोचते थे कि मैंने तो सिर्फ एक मोक्ष का ही रास्ता देखा है....** मैंने तो एक मोक्ष का ही रास्ता देखा है। अर्थात् मुझे अब भुजा को देखना रहा नहीं। वह भुजा को देखता है कि मुझमें कितनी ताकत है। लड़ता है न? यह कुश्ती करे तब पछाड़ते जाये ऐसे। मल्ल-मल्ल। प्रभु! आपने तो पछाड़ा नहीं कुछ, हों! मैंने तो एक ही मोक्षमार्ग बतलाया है। मैंने तो एक ही बतलाया, वह तो चार मार्ग बताते हैं। चार गति का बताते हैं। अथवा मोक्षमार्ग दो प्रकार से कहते हैं। वह अज्ञानी कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रवाले मोक्षमार्ग को दो कहते हैं, हम बढ़ गये, ऐसा कहते हैं। आपने एक ही बताया, इसलिए आपको घमण्ड है नहीं। समझ में आया? मोक्षमार्ग में नहीं शोर मचाते? मोक्षमार्ग दो है। तीन काल में दो मोक्षमार्ग नहीं, मोक्षमार्ग एक ही है।

मुमुक्षु : मार्ग तो कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग कहा है, वह बोरी को चावल कहा है। बारदान को चावल तोलकर इकट्ठे (बोला जाता है), चार मण और ढाई सेर। तोला बारदान। यह चावल होते हैं न? चार मण और ढाई सेर। ढाई सेर तो बारदान—बोरी है और चार सेर चावल है। इसलिए ढाई मण चावल हो गये? चार सेर और ढाई मण।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन का कथन दो प्रकार का, सम्यग्ज्ञान का, सम्यक्चारित्र का, सम्यक्शान्ति का दो प्रकार का कथन (आवे परन्तु) मार्ग एक आपने, कहा है। अज्ञानियों ने दो मार्ग कहे हैं, वे मूढ़ जीव चार गति में भटकनेवाले हैं। सोहनलालजी! समझ में आता है या नहीं कुछ?

अन्य सभी देवी-देवता चारों गतियों के रास्तों से परिचित हैं;.... वे परिचित हैं, मार्ग देखा है, ऐसा कहते हैं। उसने चार गति का मार्ग देखा है। देखा है, वह बताते हैं और आपने तो दूसरा कोई मार्ग अदृष्ट मार्ग निकाला। विकल्पातीत, अन्दर चिन्तातीत,

मनातीत, चैतन्यमूर्ति की श्रद्धा, ज्ञान और निर्विकल्प अनुभव एक ही प्रकार मोक्ष का मार्ग आपने कहा है। **मैं उनके सामने अल्पज्ञ हूँ।** ऐसा कहते हैं। देखो! क्या कहते हैं? उसने चार मार्ग बताये, मैंने एक बताया, उसने दो बताये, मैंने एक बताया, इसलिए उसके पास मैं कम सही। किसकी अपेक्षा से? उस चार बतानेवाले की अपेक्षा से मैं कम सही। परन्तु वह सच्चा-सच्चा कम परन्तु। ऐसा कहते हैं। **अल्पज्ञ का बहुज्ञानियों के सामने अभिमान कैसा?** मैं तो अल्पज्ञ हूँ, हों! एक ही मार्ग मैंने बताया, दूसरा कोई बताया नहीं। और उसने चार बताये या दो बताये।

श्लोक का तात्पर्य यह है कि हे प्रभु! आप अभिमान से रहित हैं और निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त होनेवाले हैं परन्तु अन्य देवी-देवता अपने-अपने कार्यों के अनुसार नरक आदि चारों गतियों में घूमा करते हैं। देखो! इस प्रकार चैतन्य के गुण की निर्मल परिणति की प्रशंसा और गीत गुणग्राम भक्ति करना, इसका नाम सच्ची भक्ति है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल २, शनिवार, दिनांक : १-९-१९६२
काव्य - २६ से ३१, प्रवचन नं.-०६

काव्य २६

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः,
कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः।
संसारभोगस्य वियोगभावो,
विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये ॥

रवि को राहू रोकता है, पावक को वारि बुझाता है।
प्रलयकाल का प्रबल पवन, जलनिधि को नाच नचाता है॥
ऐसे ही भव-भोगों को, उनका वियोग हरता स्वयमेव।
तुम सिवाय सबकी बढ़ती पर, घातक लगे हुए हैं देव॥

अन्वयार्थ — (स्वर्भानुः) राहु, (अर्कस्य) सूर्य का; (अम्भः) पानी, (हविर्भुजः) अग्नि का; (कल्पांतवातः) प्रलयकाल की वायु, (अम्बुनिधेः) समुद्र का तथा (वियोग-भावः) विरहभाव, (संसारभोगस्य) संसार के भोगों का (विघातः) नाश करनेवाला है। इस प्रकार (त्वदन्ये) आपसे भिन्न सब पदार्थ (विपक्षपूर्वाभ्युदयाः सन्ति) विनाश के साथ ही उदय होते हैं।

भावार्थ — हे प्रभो! संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, सिर्फ आप ही सामान्यस्वरूप की अपेक्षा नित्य हैं अर्थात् आप जन्म-मरण से रहित हैं और आपकी यह विशुद्धता भी कभी नष्ट नहीं होती।

काव्य - २६ पर प्रवचन

यह ऋषभदेव भगवान की स्तुति है। महाकवि धनंजय (कृत) 'विषापहार स्तोत्र'। वास्तव में तो यह आत्मा की स्तुति है। व्यवहार से ऐसे ऋषभदेव भगवान को लक्ष्य करके मिथ्यात्व अथवा राग-द्वेषादि के जहर को उतारनेवाली यह स्तुति है।

मुमुक्षु : परद्रव्य तो कुछ कर नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परद्रव्य इसमें कुछ नहीं कर सकता, यह तो बात बराबर है, तथापि व्यवहार से उसे पुण्य का उदय हो, धर्म के आराधक जीव को, ऐसे विकल्प उस भूमिका में सत्य के होते हैं। उसके कारण बाह्य अभ्युदय अनुकूल हो और प्रतिकूलता कोई टल जाये, परन्तु इस बात की यहाँ मुख्यता नहीं है। नवनीतभाई! उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है। यहाँ तो मुख्यता आत्मा के आराधन की मुख्यता है।

उसे लक्ष्यकर पहले २५ (काव्य) में तो ऐसा कहा कि हे भगवान! आपने तो एक प्रकार का ही मोक्षमार्ग प्ररूपित किया है। अन्यमति के अन्य देवों ने अनेक प्रकार के मोक्षमार्ग के कथन किये हैं। वह वस्तु देखने पर नहीं कि वस्तु का क्या स्वरूप है और उसमें ही सब बल देख रहे हैं। आपने तो एक मोक्ष का मार्ग अखण्डानन्द अपरिमित चैतन्य प्रभु की श्रद्धा-ज्ञान और आराधन एक ही प्रकार का मार्ग है। मोक्ष के मार्ग दो कहे हैं जैनशास्त्र में, वह भी कथनमात्र है। वस्तुस्वरूप नहीं। इसलिए हे परमात्मा! आप ही एक मोक्ष के मार्ग के कहनेवाले और परमात्मपद प्राप्त आप ही हो, ऐसा मैंने निर्णय किया है। इस प्रकार कवि भक्ति में भगवान की स्तुति करते हैं।

२६वीं।

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः,
कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः।
संसारभोगस्य वियोगभावो,
विपक्षपूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये॥

रवि को राहू रोकता है, पावक को वारि बुझाता है।
प्रलयकाल का प्रबल पवन, जलनिधि को नाच नचाता है॥
ऐसे ही भव-भोगों को, उनका वियोग हरता स्वयमेव।
तुम सिवाय सबकी बढ़ती पर, घातक लगे हुए हैं देव॥

देखो, एक स्तुति।

अन्वयार्थ — राहु, सूर्य का घातक है। राहु... राहु। वह सूर्य का घात करके

ग्रहण करता है न, ग्रहण ? राहु सूर्य का घातक। **पानी अग्नि का;....** घातक अथवा पानी का अग्नि घातक। पानी को अग्नि घात करती है। ठण्डे पानी को। **प्रलयकाल की वायु, समुद्र का....** और प्रलयकाल की वायु समुद्र को नचाती है। आया था न उसमें ? पानी डोलमडोला प्रलयकाल में, सागर का—समुद्र का पानी डोलमडोला चलता है। हे भगवान! और **विरहभाव, संसार के भोगों का नाश करनेवाला है।** संसार के भोग मिले, उसमें उनका वियोग उनका नाश करता है। संसार के भोग विपक्ष / शत्रुसहित हैं। सूर्य को राहु शत्रु है, पानी को अग्नि शत्रु है, समुद्र को प्रलयकाल का वायु शत्रु है और संसार के संयोग को वियोग शत्रु है। परन्तु हे नाथ! **इस प्रकार आपसे भिन्न सब पदार्थ....** आप से दूसरे भिन्न पदार्थ **विनाश के साथ ही उदय होते हैं।** नाशवान का वियोग लेकर ही वे उदय होते हैं। समझ में आया ?

तत्त्वार्थसार में कहा है न अनित्य की बात लेते हुए। अनित्य भावना में। प्रभु! यह शरीर जब जन्म होता है तो वह जन्म हुआ, उससे पहले अनित्य के गोद में लेता शरीर उत्पन्न होता है। माता गोद में बाद में लेती है। बालक का जन्म होता है, वह तो जन्म से पहले ही कहते हैं कि वह माता तो गोद में बाद में लेगी, परन्तु अनित्यता ने तो जहाँ शरीर जन्म हुआ, वहाँ गोद में शरीर को ले लिया है। समझ में आया ? शरीर की अनित्यता बताते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नाश। एक समय घटने लगा एकदम। जहाँ जन्मे अभी माता तो बाद में हाथ में लेगी और गोद में लेगी। अनित्यभाव अनित्य ने शरीर को गोद में लेकर नाश करने की तैयारी हो रही है। पहले समय से।

यहाँ कहते हैं, प्रभु! जगत के बाहर के उदय, उनके साथ विपक्ष अर्थात् शत्रुसहित सब उदय होते हैं। आपका ऐसा उदय है कि जो आपका आराधन करे, उसे विपक्ष / शत्रु कोई नहीं हो सकता। समझ में आया? दूसरे प्रकार से कहें तो इस आत्मा के अतिरिक्त पुण्य-पाप आदि परिणाम हैं न, पुण्य के ? पुण्यभाव के ? यह उसका आराधन करनेवाले, सेवन करनेवाले को वह पाप शत्रु है। पाप का उदय उसे आये बिना रहेगा

नहीं। समझ में आया ? परन्तु हे नाथ! चिदानन्दमूर्ति प्रभु! आपका आराधन जो करे अखण्ड आनन्द का सेवन श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र से, उसे कोई विपक्ष पीछे है नहीं। समझ में आया ?

यह लक्ष्मी का उदय। उसमें आता है न ? 'भोगे रोग भयं, कुले च्युति भयं।' वह भर्तृहरि में श्लोक में आता है। यह तो अपने आता है बनारसीदास में। बनारसीदास के समयसार नाटक में। सर्वत्र भय है, एक निर्भय आत्मा की उदात्तदशा में निर्भयता है। बाकी पुण्य का आराधन, पाप का आराधन, सब प्रतिकूल संयोग से नाशवान सब करनेवाले हैं। शास्त्र में न्याय देते हैं कि जिसने बहुत पुण्य किया न मिथ्यादृष्टि ने, पुण्य किया। लोग कहे न बहुत पुण्य करें फिर धीरे-धीरे पवित्रता पकेगी। बहुत पुण्य-शुभभाव करें, शुभभाव को बहुत करें तो धीरे-धीरे पवित्रता सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। ऐसा अज्ञानी कहते हैं। उसे आचार्य कहते हैं, एक बार बात सुन तेरी। उस पुण्य के परिणाम में कदाचित् मिथ्यादृष्टि में शुभभाव बहुत हो जाये, इससे सातावेदनीय पन्द्रह कोड़ाकोड़ी की स्थिति बँध जाये। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को इतनी स्थित नहीं होती। धर्मीजीव को संसार की स्थिति का लम्बा कर्म नहीं हो सकता। चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प वीतरागस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान का आराधन है, उसे जो शुभभाव होता है, उसमें अन्तः कोड़ाकोड़ी की सातावेदनीय की स्थिति (बँधती है)। सातावेदनीय, हों! जो पुण्य का बड़ा स्वरूप। सम्यग्दृष्टि को आत्मा निर्विकल्प अखण्डानन्द ध्रुव स्वभाव का आराधन करनेवाले, उसे कोई शुभभाव रहे और पुण्य बँधे तो थोड़ी स्थिति का बँधता है। सेठी! और जो अकेले राग का आराधन करता है और दृष्टि मिथ्या है, उसके शुभभाव की उत्कृष्टता में आ जाये (तो) पन्द्रह कोड़ाकोड़ी स्थिति कर्म की बँधती है। सातावेदनीय की (बँधती है)। वह पुण्य की स्थिति मिथ्यादृष्टि को लम्बी बँधती है। परन्तु विपक्षसहित है। वह पन्द्रह कोड़ाकोड़ी की स्थिति वह नहीं भोग सकता। कारण कि त्रस की स्थिति ही अभी दो हजार सागरोपम है। दो हजार सागर। और पन्द्रह कोड़ाकोड़ी की स्थिति बाँधी है परन्तु मिथ्यादृष्टिरूप से शुभभाव को आराध्य किया-सेवन किया है, इसलिए उसे पाप का मिथ्यात्व उदय और अशुभभाव आये बिना रहेगा नहीं। पन्द्रह कोड़ाकोड़ी स्थिति को तोड़कर अल्प स्थिति करके निगोद में स्थावर में

चला जायेगा। सेठी! सेठी को नया लगता है सब मानो यह। परन्तु यह दिगम्बर के पुराने व्यक्ति हैं। गर्भश्रीमन्त नामनिक्षेप से। समझ में आया?

इसलिए कि जिसकी दृष्टि में राग का प्रेम और राग की रुचि और संयोग में लाभ की बुद्धि है, ऐसे जीव को उत्कृष्ट शुभभाव आ जाये तो पन्द्रह कोड़ाकोड़ी की साता की बन्ध स्थिति हो जाती है। परन्तु इतनी रह नहीं सकती। क्योंकि उसे अशुभभाव ऐसा तीव्र आयेगा कि एकदम स्थिति तोड़कर नरक और निगोद में चला जायेगा। परन्तु प्रभु चैतन्य का जिसने आराधन किया है। आपका अर्थात् चैतन्य का। वह भगवान की स्तुति अर्थात् ही आत्मा की स्तुति। ऐसा आता है न? भगवान की भक्ति अर्थात् ही आत्मा की भक्ति। बीच में विकल्प हो, वह व्यवहारभक्ति कहने में आती है। अर्थात् चैतन्य की सेवा करनेवाला, ध्रुव चैतन्य प्रभु, यह उसे कदाचित् पुण्य—शुभभाव हो और अन्त:कोड़ाकोड़ी की स्थिति बँधे तो भी उसे विपक्ष नहीं है, कोई शत्रु नहीं है। उसके स्वभाव की स्थिरता द्वारा इतनी स्थिति भी तोड़कर शुद्धोपयोग को पाकर केवलज्ञान को प्राप्त करेगा। समझ में आया?

यह कहते हैं, **हे प्रभो! संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, सिर्फ आप ही सामान्यस्वरूप की अपेक्षा नित्य हैं....** बात तो यही कही है, व्यवहार से भगवान की स्तुति 'ऋषति गच्छति इति परमपदं इति ऋषभ:' ऋषभ का अर्थ यह है—भगवान आत्मा ऋषति गच्छति परमपदं अपने पद को प्राप्त करे, उसे यहाँ ऋषभ कहा जाता है। चौबीस तीर्थंकर के अर्थ तो आत्मा में घटित होते हैं। नवनीतभाई! बाहर में व्यवहार से भक्ति भी होती है शुभराग। सर्वज्ञ परमात्मा की भक्ति सन्त-मुनि भी करते हैं। समन्तभद्राचार्य जैसे, कुन्दकुन्दाचार्य जैसे शुभराग होता है, तब त्रिलोकनाथ तीर्थंकर भगवान की स्तुति करते हैं। क्षायिक समकिती इन्द्र शकेन्द्र और उसकी शचि रानी एकभवतारी, वह भी नन्दीश्वर द्वीप में जाकर, भक्ति का विकल्प आता है, अन्दर का लक्ष्य और दृष्टि छोड़ता नहीं, वहाँ भी घुँघरु बाँधकर भगवान की शाश्वत प्रतिमायें, अष्टाह्निका के आठ दिन में, वहाँ बाहर महीने में तीन बार जाते हैं। नन्दीश्वर द्वीप में। और बालक की भाँति नृत्य करते हैं। स्तुति-भक्ति (करते हैं)। जानते हैं, समझते हैं कि

जड़ की क्रिया जड़ से होती है। जरा राग आया, वह पुण्यबन्ध का कारण है। मेरे स्वलक्ष्य से जितनी एकाग्रता हो, वह मुझे संवर और निर्जरा का कारण है। सेठी!

यहाँ कहते हैं कि हे नाथ! सामान्य स्वरूप की अपेक्षा से भगवान नित्य है। **अर्थात् आप जन्म-मरण से रहित हैं और आपकी यह विशुद्धता भी कभी नष्ट नहीं होती।** आपकी शुद्धता प्रगट हो, ऐसा चैतन्यस्वभाव को विकल्परहित का आराधन करे, उसकी शुद्धता को विरुद्धत करनेवाला जगत में कोई है नहीं। यह वास्तविक भक्ति प्रभु! आपकी ही करना सत्य है। बाकी यह अनित्यता की भक्ति और जिसका फल अनित्य मिले, वह कहीं भक्ति-स्तुति सच्ची नहीं है। यह २६ कही।

काव्य २७

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्,
तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति।
हरिन्मणिं काचधिया दधानः-
तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः॥

बिन जाने भी तुम्हें नमन, करने से जो फल फलता है।
वह औरों को देव मान, नमने से भी नहिं मिलता है॥
ज्यों मरकत को काँच मानकर, करगत करनेवाला नर।
समझ सुमणि को काँच गहे, उसके सम रहे, न खाली कर॥

अन्वयार्थ — (त्वाम्) आपको (अजानतः) जाने बिना ही (नमतः) नमस्कार करनेवाले पुरुष को (यत् फलम्) जो फल होता है, (तत्) वह फल (अन्यं देवता इति जानतः) दूसरे को 'देवता है' — इस तरह जाननेवाले पुरुष को (न तु) नहीं होता। क्योंकि (हरिन्मणिम्) हरे मणि को (काचधिया) काँच की बुद्धि से (दधानः) धारण करनेवाला पुरुष, (तं तस्य बुद्ध्या वहतः) हरे मणि को हरे मणि की बुद्धि से धारण करनेवाले पुरुष की अपेक्षा (रिक्तः न) दरिद्र नहीं है।

भावार्थ — हे भगवन्! जो आपको नमस्कार करता है, पर आपके स्वरूप को नहीं जानता; उसे भी जो पुण्यबन्ध होता है, वह किसी दूसरे को देवता माननेवाले पुरुष को नहीं होता। जिस तरह कोई अनजान मनुष्य हरितमणि को पहनकर, उसे काँच समझता है तो वह, दूसरे की निगाह में जो मणि को मणि समझकर पहन रहा है, उसकी अपेक्षा निर्धन नहीं कहलाता। वे दोनों एक जैसी सम्पत्ति के अधिकारी कहे जाते हैं; अतः श्रद्धा और विवेक के साथ प्राप्त हुआ अल्पज्ञान भी प्रशंसनीय है।

काव्य - २७ पर प्रवचन

२७ (श्लोक)।

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्,
तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति।
हरिन्मणिं काचधिया दधानः-
तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः॥

बिन जाने भी तुम्हें नमन, करने से जो फल फलता है।
वह औरों को देव मान, नमने से भी नहिं मिलता है॥
ज्यों मरकत को काँच मानकर, करगत करनेवाला नर।
समझ सुमणि को काँच गहे, उसके सम रहे, न खाली कर॥

ध्यान रखना यह स्तुति। क्या कहते हैं?

अन्वयार्थ :- आपको जाने बिना ही.... बिना जाने अर्थात् अनुभव किये बिना। अनुभव न हुआ हो आपका। परन्तु आपका लक्ष्य बँधा हो। समझ में आया? लक्ष्य बराबर बँधा हो। अनुभव न हो। आपकी तत्त्वचर्चा, आपके चैतन्य की वार्ता। आता है न, एक बार भी चैतन्य की अनुभव की वार्ता सुने '**चित्तप्रसनेन्**'—चित् प्रसन्न से, वह भावि मोक्ष का भाजन है। वह अल्प काल में केवल (ज्ञान) लेगा। भले वर्तमान में उसे अनुभव न हो, परन्तु शुद्धनय का पक्ष करके उसकी तत्त्व और चर्चा और बारम्बार उसका श्रवण-मनन करता है।

आपको जाने बिना.... अनुभव किये बिना, **नमस्कार करनेवाले पुरुष को....** परन्तु आपको नमन करने की उसकी योग्यता प्रगट हुई है। बारम्बार तत्त्व का बहुमान। विकल्प और राग तथा पर का बहुमान नहीं। निर्विकल्प भगवान का लक्ष्य, उसकी रुचि, उसका विवेक। ज्ञान भले थोड़ा हो। समझ में आया? उसके प्रति का झुकाव। उस **पुरुष को जो फल होता है, वह फल दूसरे को 'देवता है' — इस तरह जाननेवाले पुरुष को नहीं होता।** यह देव है, अन्य के माने हुए कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को मानता है कि यह हमारे बराबर देव है। देव नहीं, उसे देव माने; गुरु नहीं, उसे गुरु माने; नहीं शास्त्र, उसे शास्त्र माने। इसकी अपेक्षा प्रभु! यह तेरी लक्ष्यवाली चीज़ जो आत्मा की, यह उसका फल कहीं कम नहीं है। उसको कुछ फले, ऐसा नहीं है और इसमें बड़ा फल प्राप्त होता है। समझ में आया?

दूसरे को 'देवता है'—इस तरह जाननेवाले पुरुष को नहीं होता। क्योंकि हरे मणि को काँच की बुद्धि से धारण करनेवाला पुरुष,.... है तो हाथ में मणि। परन्तु जरा ख्याल है काँच का। विशेष विवेक आदि नहीं। **हरे मणि को काँच की बुद्धि से धारण करनेवाला पुरुष,....** जरा मूल पाठ से अर्थ में दूसरे प्रकार से लिया है। वास्तव में ऐसा है, ऐसा कहने से और दूसरे मिथ्यादेव को सच्चे देवरूप से मानता है, उसे सब उल्टा पड़ता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और सत् तत्त्व, दैवी शक्ति भगवान आत्मा, उसके लक्ष्य की चर्चा, उसकी भावना, उसकी विचारणा, उसका ऊहापोह, उसका अनुपया यह करनेवाले को अनुभव न होने पर भी उसका फल अज्ञानी, कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को माननेवाले अथवा राग का आराधन करनेवाले, राग में लाभ लक्ष्य माँडकर रहनेवाले, उनकी अपेक्षा प्रभु! इसका बड़ा फल है। समझ में आया?

यहाँ ऐसा कहा है कि **हरे मणि को हरे मणि की बुद्धि से धारण करनेवाले पुरुष की अपेक्षा दरिद्र नहीं है।** क्या कहते हैं? एक हरि मणि पकड़ी है जानकर और एक ने हरि मणि जाने बिना पकड़ी है, परन्तु दोनों के पास ऋद्धि तो है। समझ में आया? एक हरि मणि यह सच्ची है, ऐसा जानकर पकड़ी है। इसी प्रकार एक ने आत्मतत्त्व को और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर पकड़ा। और एक ने हरि

मणिरूप से काचबुद्धि से, उसकी कीमत का अनुभव जो चाहिए, वह हो सकता नहीं, तो भी प्रभु! जिसे सच्ची हरि मणि है और जानकर पकड़ा है, उसकी अपेक्षा हरि मणि को भले उसने अल्प ज्ञान में विशेष विवेक बिना पकड़ा है, परन्तु उससे अल्प ऋद्धिवाला है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। समझ में आया? दरिद्र नहीं है।

भावार्थ :- हे भगवन्! जो आपको नमस्कार करता है, पर आपके स्वरूप को नहीं जानता;.... विशेष अनुभव नहीं। अनुभवमात्र नहीं, इतनी बात लेना। ऐसे तो जानता है। नहीं जानता, ऐसा नहीं। परन्तु ऐसे साक्षात्! स्व के वेदनसहित नहीं जानता। **उसे भी जो पुण्यबन्ध होता है, वह किसी दूसरे को देवता माननेवाले पुरुष को नहीं होता।** सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ प्रभु और आत्मा सर्वज्ञ प्रभु आत्मा, वह इसके लक्ष्य का करनेवाला-माननेवाला, उसके अतिरिक्त के कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र अल्पज्ञ को देव माननेवाला, कुदेव और कुगुरु को (देव और) गुरु माननेवाला, ऐसे **देवता माननेवाले पुरुष को नहीं होता।** उसे वह फल पुण्यबन्ध ऐसा होता नहीं।

धर्मी के लक्ष्यवाले को पुण्य और पवित्रता अल्प काल में प्राप्त होगी। परन्तु पुण्य भी ऐसा बँधता है कि जिसे अनन्त काल में नहीं प्राप्त ऐसी सामग्री भी वहाँ वीतराग की वाणी आदि का योग होता है। ऐसे मिथ्यादृष्टि को, राग का आराधन करनेवाले को ऐसा पुण्यफल और पुण्यबन्ध नहीं होता।

जिस तरह कोई अनजान मनुष्य हरितमणि को पहनकर, उसे काँच समझता है तो वह, दूसरे की निगाह में जो मणि को मणि समझकर पहन रहा है,... जानकर पहनता है, वह अजानकर। **उसकी अपेक्षा निर्धन नहीं कहलाता।** उसके हाथ में रत्न है। उसके हाथ में रत्न है, इसलिए इस अपेक्षा से उसे निर्धन नहीं कहा जाता। **वे दोनों एक जैसी सम्पत्ति के अधिकारी कहे जाते हैं;....** दोनों की सम्पदा एक अपेक्षा से समान कही जाती है। **श्रद्धा और विवेक के साथ प्राप्त हुआ अल्पज्ञान भी प्रशंसनीय है।** ऐसा कहते हैं। अनुभव बिना भी वास्तविक श्रद्धा और वास्तविक तत्त्व को पकड़ा है। आता है न शास्त्र में? शुद्धनय का पक्ष, अनादि काल से एक सेकेण्ड भी आया नहीं। यह तो अभी व्यवहार से लाभ होगा और निमित्त से लाभ होगा, राग की मन्दता करते-करते

लाभ होगा। अरे! तेरे कुदेव का सेवन है। वह देव का सेवन नहीं। दैवशक्ति आत्मा भगवान के लक्ष्य से जो काम चर्चा, ध्यान, विचारणा इत्यादि कर रहा है, वह समझकर ध्यानादि करता है। प्रभु! इससे कम नहीं कहलाता है। वह पूर्ण की प्राप्ति होने की उसे तैयारी है। ऐसा कहना चाहते हैं। समझ में आया इसमें कुछ?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यादृष्टि, परन्तु उसका लक्ष्य कहाँ है? जोर है, उसे स्वभाव ऊपर की बात। यही वस्तु.... यही वस्तु.... यही वस्तु। चैतन्य ज्ञायक अभेद अखण्ड वस्तु, वही मैं हूँ, ऐसा लक्ष्य जहाँ बँधा है, वह अल्प काल में अनुभव को प्राप्त करेगा। समझ में आया? वह अल्प ऋद्धिवाला नहीं कहलायेगा। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐई! सेठी! अभी विचार में पड़ जाते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, परन्तु सम्यक्त्व के सन्मुख हो गया है। उसे भी अल्प ऋद्धिवाला कहने में नहीं आता। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

जो तीव्र मिथ्यादृष्टि, गृहीत मिथ्यादृष्टि है और उसके सन्मुख में पड़ा है, खोटे को सच्चा मानकर पड़ा है। वह सच्चे को बराबर अनुभव नहीं परन्तु लक्ष्य में बाँधकर डोर बाँधी है बराबर। समझ में आया? वह अल्प काल में मिथ्यात्व का नाश होकर, सम्यक् अनुभव करके केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जायेगा। उसकी ऋद्धि भी अल्प है, ऐसा हम नहीं कहते। समझ में आया? देखो! यह विषापहार।

श्रद्धा और विवेक के साथ प्राप्त हुआ अल्पज्ञान भी प्रशंसनीय है। वास्तविक विवेक और वास्तविक श्रद्धा, उसका चैतन्य की ओर की निर्विकल्प की रुचि का जोर, रुचि का जोर, उसे कहते हैं रुचि का परिणमन उसको है। उससे हम अल्प नहीं कहते, प्रभु! क्योंकि देव के आराधन में वह गया है। और कुदेव का आराधन करनेवाले, उसे कुछ भी सच्चा फल मिलनेवाला नहीं है। कुदेव अर्थात् राग। शुभराग का सेवन करनेवाले नौवें ग्रैवेयक में गये ऐसे शुभभाव को सेवन किया, वह दिव्यशक्ति का सेवन नहीं, वह तो कुदेव का सेवन है। उसकी अपेक्षा इसका फल अलग प्रकार का है। सेठी!

काव्य २८

प्रशस्तवाचश्चतुराः कषायैः-
दग्धस्य देवव्यवहारमाहुः।
गतस्य दीपस्य हि नन्दितत्वम्-
दृष्टं कपालस्य च मङ्गलत्वम्॥

विशद मनोज्ञ बोलनेवाले, पण्डित जो कहलाते हैं।
क्रोधादिक से जले हुए को, वे यों 'देव' बताते हैं॥
जैसे 'बुझे हुए' दीपक को, 'बढ़ा हुआ' सब कहते हैं।
और कपाल विघट जाने को, मङ्गल हुआ समझते हैं॥

अन्वयार्थ — (प्रशस्तवाचः) सुन्दर बोली बोलनेवाले (चतुराः) चतुर मनुष्य, (कषायैः दग्धस्य) कषायों से जले हुए पुरुष के प्रति भी (देवव्यवहारम् आहुः) देव शब्द का व्यवहार करना कहते हैं। सो ठीक ही है (हि) क्योंकि (गतस्य दीपस्य) बुझे हुए दीपक का (नंदितत्वं) 'बढ़ना' (च) और (कपालस्य) फूटे हुए घड़े का (मङ्गलत्वम्) 'मङ्गलपन' (दृष्टम्) देखा गया है।

भावार्थ — हे भगवन्! लौकिक मनुष्य रागी-द्वेषी जीवों को भी 'देव' शब्द से व्यवहार करते हैं, सो सिर्फ लोक व्यवहार से ही किसी बात की सत्यता नहीं होती क्योंकि लोक में कितनी ही बातों का उल्टा व्यवहार होता है।

जैसे कि जब दीपक बुझ जाता है, तब लोग कहते हैं, दीपक 'बढ़ गया' और जब घड़ा फूट जाता है, तब लोग कहने लगते हैं कि घड़े का 'कल्याण' हो गया।

काव्य - २८ पर प्रवचन

२८ (श्लोक)।

प्रशस्तवाचश्चतुराः कषायैः-
दग्धस्य देवव्यवहारमाहुः।
गतस्य दीपस्य हि नन्दितत्वम्-
दृष्टं कपालस्य च मङ्गलत्वम्॥

विशद मनोज्ञ बोलनेवाले, पण्डित जो कहलाते हैं।
क्रोधादिक से जले हुए को, वे यों 'देव' बताते हैं॥
जैसे 'बुझे हुए' दीपक को, 'बढ़ा हुआ' सब कहते हैं।
और कपाल विघट जाने को, मङ्गल हुआ समझते हैं॥

प्रत्येक गाथा में दृष्टान्त देकर बात को सिद्ध किया है। क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : कितना सरस है, देखो न! प्रशंसा... प्रशंसा। क्या कहते हैं?

इस जगत के बोलकाओ। बोलका समझते हो? बातूनी आता है न, भाई? पंचाध्यायी में। वाग्दूत आता है। .... कहते हैं। मेरे वचन के चातुर्य, वचन का बातूनी और वचन के विंझणे आत्मा को तोड़ डालनेवाले ऐसे वचन करे.... ऐसे वचन करे। चतुर मनुष्य वह संसार के चतुर। वे **कषायों से जले हुए पुरुष के प्रति भी देव शब्द का व्यवहार करना कहते हैं।** जिसमें राग पड़ा है, पुण्य की क्रिया पड़ी है, उसे लाभ मनाते हैं, वे बोलनेवाले चतुर। वे कषायवाले जीव को भी देव मानकर बैठे हैं। वे अज्ञान में चतुर हैं। समझ में आया?

क्या कहा? बातूनी, जिसे कषायभाव पड़ा है, उसे देव बता रहे हैं और अज्ञानी दूसरे विशेष कि जो रागभाव की क्रिया आराधते हैं, उसमें धर्म बता रहे हैं। वे बातूनी वाणी के चतुर जीव मूढ़ और अज्ञानी हैं। समझ में आया? वाणी की वक्रता की शैली से ऐसा कहे ऐसा देखे... ऐसा होवे... व्यवहार बिना निश्चय होता नहीं, राग बिना लाभ होता नहीं। ऐसी युक्ति और बराबर वचन की कला से फैलाते हैं। हे नाथ! ऐसे अज्ञानी इस राग को धर्म मनवा रहे हैं। राग से देवशक्ति प्रगट होगी, ऐसा मनवा रहे हैं। वे लौकिक देव ऐसे ही होते हैं और लौकिक चतुर ऐसे होते हैं। समझ में आया?

देव शब्द का व्यवहार करना कहते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि बुझे हुए दीपक का 'बढ़ना'.... नहीं कहते? दीपक बढ़ गया है। दीपक बुझावे न, बुझावे? दीपक बढ़ाया है। क्या कहते हैं तुम्हारे? दीपक बढ़ गया। देखो, लोक की विपरीतता! दीपक बढ़ गया। बुझ गया। बुझ गया हो, उसे क्या कहें? बुझा। दीपक बुझा उसे कहते हैं कि

बढ़ गया। जगत की विपरीतता तो देखो! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ऐसा कि ऐसे अपमान.... यह जरा अपमान माने। अपशकुन माने। खबर है न! वह तो माँगने आवे न ब्राह्मण। अब तो सब कम हो गया। नहीं तो गाँव में ब्राह्मण माँगने आवे आटा। आटा। आटा न हो तो नहीं है, ऐसा वह न कहे। आज आटा अधिक है। यह तो हमारा अनुभव सुना हुआ है। प्रत्यक्ष यह सब बातें प्रत्यक्ष सुनी हुई है। उसमें कहीं किसी को पूछने जाने जैसा नहीं है। आज घी बहुत है। घी नहीं, ऐसा नहीं कहते। समझ में आया न? रस कम हो तो हो गया। हाय... हाय, यह तो क्या कहा? अपशकुन। अपशकुन कहलाता है। घी हो रहा है, ऐसा न कहे। बहुत घी है, इसलिए लेते आना। घी बहुत है, इसलिए लेते आना। देखो, जगत की विपरीतता! समझ में आया? और आटा बहुत है। वह ब्राह्मण समझ जाता है कि आटा बहुत है अर्थात् नहीं है। आटा नहीं, ऐसा कहे, तब तो हो गया। रोटी बिना मर जाऊँगा रंक होकर, ऐसा अपशकुन माने।

इसी प्रकार अज्ञानी यह राग और पुण्य की क्रिया के करनेवाले को देव माने, राग और पुण्य की शुभ क्रिया के करनेवाले को धर्म मनावे और उसमें से देवपना प्रगट होगा, ऐसा मनावे। भगवान! यह तो लौकिक की विपरीतता है। क्योंकि जब दीपक बुझे, तब बढ़ना कहते हैं। ऐसी विपरीतता इसकी है, ऐसा कहते हैं। और **फूटे हुए घड़े का 'मङ्गलपन' देखा गया है।** कल्याण हुआ। घड़ा फूटे न? क्या कहते हैं? मांगलिक हुआ। घड़ा फूटा तो मांगलिक हुआ। क्योंकि और घड़ा फूटा तो घर में से सब फूट जायेगा तो? वह तो मांगलिक हुआ। ऐसे उल्टे जीव घड़ा फूटने को कल्याण मानते हैं, दीपक को बढ़ा हुआ मानते हैं, ऐसे अज्ञानी राग से बढ़े हुए, शुभक्रिया के बढ़े हुए, पुण्य में बढ़े हुए बाहर के पूर्व के पुण्य के कारण प्रसिद्धता को प्राप्त, उसे देवपना मान रहे हैं और उसे धर्म मनवा रहे हैं। प्रभु! वह तो वचन के चतुर हैं, हों! वे वाणी के चतुर, ज्ञान के चतुर नहीं। सेठी! देखो न स्तुति भी भगवान के सामने, ऐसे की है न मन्दिर में? भगवान सामने विराजमान हैं ऋषभदेव प्रभु—प्रतिमा।

भावार्थ :- हे भगवन्! लौकिक मनुष्य रागी-द्वेषी जीवों को भी 'देव' शब्द से व्यवहार करते हैं,.... राग हो, द्वेष हो, उसे भी देव शब्द से कहते हैं। **सो सिर्फ लोक व्यवहार से ही किसी बात की सत्यता नहीं होती....** ऐसे लोक व्यवहार से भी कुछ सत्यपना नहीं हो सकता। **क्योंकि लोक में कितनी ही बातों का उल्टा व्यवहार होता है।**

जैसे कि जब दीपक बुझ जाता है, तब लोग कहते हैं, दीपक 'बढ़ गया'.... यह तो लोक का व्यवहार लौकिक उक्ति व्यवहार। ऐसे व्यवहारनय के कथन भी अन्यथा कहनेवाले हैं। कहा है या नहीं? व्यवहार कुछ भी निमित्त देखकर, अपेक्षा देखकर व्यवहार उल्टा ही बतलाता है। उल्टा बतलाता है और वचन की चतुराईवाले उसे स्थापित करते हैं। वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव, वे लौकिक के चतुर जैसे हैं। उन्हें सच्चा ज्ञान और तत्त्व का ज्ञान नहीं है।

जब घड़ा फूट जाता है, तब लोग कहने लगते हैं कि घड़े का 'कल्याण' हो गया। यह घड़े का कल्याण हो गया। उल्टा। इसी प्रकार अज्ञानी जीव किंचित् शुभभाव की क्रिया में बढ़े, राग में कुछ पाप का कम होकर... यह तो बढ़ गया। बहुत बढ़ा। धूल में भी बढ़ा नहीं, सुन न! शुभराग की क्रिया से बढ़े हुए को बढ़ा हुआ कहना, वह मिथ्यादृष्टि के लौकिक व्यवहार के कल्याण जैसे माने, घड़ा फूटा और कल्याण (माने), वैसी इसकी मान्यता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इसकी मान्यता में कुछ सच्चाई है नहीं। सर्वत्र झूठ झूठ गप्प चलती है।

इसी प्रकार प्रभु उस पर्याय में, कदाचित् ऐसी उज्ज्वलता शुक्ललेश्या हो गयी। वह शुक्ललेश्या! नौवें ग्रैवेयक में गया, इन्द्राणी डिगाने आवे तो डिगे नहीं; और शरीर के खण्ड-खण्ड करे, तो क्रोध करे नहीं। परन्तु उसकी बुद्धि राग और पुण्य पर अन्दर में पड़ी है। प्रभु! उसे लौकिक में जैसे घड़ा फूटा और कल्याण कहे, उसी प्रकार यह राग और पुण्य में धर्म मान रहे हैं। राग को धर्म मान रहे हैं, राग को कल्याण मान रहे हैं। यह दीपक बुझ जाये वहाँ...। यह आत्मा का दीपक राग को धर्म मानने में, दीपक बुझ जाता है, तथापि उसे बढ़ता है, ऐसा कहनेवाले वे वचन के चातुर्य ऐसी चतुराई करा रहे हैं। कहो, समझ में आया? दृष्टान्त देखो दृष्टान्त यह। **घड़े का 'कल्याण' हो गया।** २८ हुई।

काव्य २९

नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तम्,
हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति,
ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण॥

नयप्रमाणयुत अतिहितकारी, वचन आपके कहे हुए।
सुनकर श्रोताजन तत्त्वों के, परिशीलन में लगे हुए॥
वक्ता का निर्दोषपना जानेंगे, क्यों नहिं हे गुणमाल।
ज्वर विमुक्त जाना जाता है, स्वर पर से सहजहि तत्काल॥

अन्वयार्थ — (नानार्थम्) अनेक अर्थों के प्रतिपादक तथा (एकार्थम्) एक ही प्रयोजनयुक्त (त्वदुक्तम्) आपके कहे हुए (अदः हितं वचः) इन हितकारी वचनों को (निशम्य) सुनकर (के) कौन मनुष्य (ते वक्तुः) आपके जैसे वक्ता की (निर्दोषताम्) निर्दोषता को (न विभावयन्ति) नहीं अनुभव करते? अर्थात् सभी करते हैं। जैसे (यः) जो (ज्वरेण मुक्तः) ज्वर से मुक्त हो जाता है, (सः) वह (स्वरेण सुगमः) स्वर से सुगम हो जाता है अर्थात् स्वर से उसकी अच्छी तरह पहिचान हो जाती है।

भावार्थ — आपके वचन नानार्थ होकर भी एकार्थ हैं। यह प्रारम्भ में विरोध मालूम होता है, पर अन्त में उसका इस प्रकार परिहार हो जाता है कि आपके वचन स्याद्वाद सिद्धान्त से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करनेवाले हैं, फिर भी एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं अर्थात् पूर्वापरविरोध से रहित हैं।

हे भगवन्! आपके हितकारी वचनों को सुनकर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आप निर्दोष हैं क्योंकि सदोष पुरुष वैसे वचन नहीं बोल सकता। जैसे कि किसी की अच्छी आवाज सुनकर साफ मालूम हो जाता है कि यह ज्वर से मुक्त है क्योंकि ज्वर से पीड़ित मनुष्य का स्वर अच्छा नहीं होता।

काव्य - २९ पर प्रवचन

२९ (श्लोक)।

नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तम्,
हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति,
ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण॥

आहा! प्रत्येक गाथा में दृष्टान्त!

नयप्रमाणयुत अतिहितकारी, वचन आपके कहे हुए।
सुनकर श्रोताजन तत्त्वों के, परिशीलन में लगे हुए॥
वक्ता का निर्दोषपना जानेंगे, क्यों नहिं हे गुणमाल।
ज्वर विमुक्त जाना जाता है, स्वर पर से सहजहि तत्काल॥

अन्वयार्थ :- अनेक अर्थों के प्रतिपादक.... हे नाथ! हे सर्वज्ञप्रभु! अनेक अर्थों के अनेक नय और प्रमाण से आप वस्तु के कथन कहते हो। **तथा एक ही प्रयोजनयुक्त....** आपका प्रयोजन तो वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा सिद्ध करने का प्रयोजन है। एक ही प्रकार। नित्य, अनित्य, एक, अनेक, अनेक प्रकार के पहलुओं से आप नय-प्रमाण से बात करते हो परन्तु वस्तुस्वरूप क्या है, उसे सिद्ध करने के आपके वाक्य।

अथवा बहुत प्रकार के कथन चरणानुयोग, कथानुयोग में आवे। राग ऐसा होता है, पुण्य ऐसा होता है परन्तु आपका प्रयोजन तो एक वीतरागभाव ही कराने का है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ की वाणी में चारों अनुयोगों का सार, यह राग और निमित्त से उपेक्षा करके, स्वभाव की अपेक्षा कराना, वह प्रयोजन है। कथन भले चाहे जितने प्रकार के आवें, विविध प्रकार के हों, आता है न मोक्षमार्गप्रकाशक में? तुम विविध प्रकार के अर्थ करते हो न? और अन्यमति के विविध प्रकार के अर्थ करनेवाले को तुम मिथ्या सिद्ध करते हो। ऐसा आता है न, भाई!

मुमुक्षु : मोक्षमार्गप्रकाशक।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मोक्षमार्गप्रकाशक में। सुन न! जो सर्वज्ञ परमात्मा अनेक प्रकार से कथन करे, उसमें हेतु एक ही है। चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प भगवान की ओर झुकाने का (हेतु है)। कहीं राग को करना या राग में लाभ होगा या निमित्त को जोड़ना या मिलाना, ऐसा कथन वीतराग के चार अनुयोग में धर्म की प्रयोजन दृष्टि में, कहीं आता नहीं। और वे लोग तो घड़ीक में ऐसा कहे—'अपुत्रस्य गति नास्ति।' आता है न? अरे! जिसे पुत्र न हो वह बांझ। और क्या कहलाता है वह? श्राद्धकर्म। श्राद्धकर्म न करे तो उसकी गत अच्छी नहीं होती। एक ओर ऐसा कहे और एक ओर अमुक जैसे ब्रह्मचारी थे, वे थे और ऐसा कहे। ऐसे आत्मा के अन्दर में लो (तो) एक ओर पुण्य को हेय बतावे, दूसरी ओर पुण्य को आदरणीय बताकर लाभ बतावे। भगवान! इसके ठिकाना बिना के कथन हैं। अज्ञानी के कथन मिथ्यादृष्टि के, ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़ा हो परन्तु वह वचन की चतुराई से दूसरी ही बातें कर रहे हैं।

मुमुक्षु : व्यवहार से उपादेय?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से उपादेय का अर्थ क्या? है, उसका स्वीकार, इसका नाम उपादेय है। समझ में आया? जैसे सर्वज्ञ हैं, उनका स्वीकार करना, वह सर्वज्ञ की स्तुति है; उसी प्रकार व्यवहार है, ऐसा स्वीकार करना, उसका नाम उपादेय है। उपादेय (अर्थात्) आदरणीय रूप से, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : ज्ञान करना, वह उपादेय है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान करना, इसका (नाम) उपादेय है। जाननेयोग्य है, ऐसा है, ऐसा जानना, वह उपादेय। आदरणीय-फादरणीय है नहीं। परन्तु वचन के चतुर अज्ञानी अनेक प्रकार के अर्थ करके विपरीतता करते हैं। प्रभु! आपके कथन में अनेक प्रकार होते हैं परन्तु एक प्रयोजन है, यह बात आपके ख्याल में से हटती नहीं। समझ में आया?

आपके कहे हुए इन हितकारी वचनों को सुनकर.... हितकारी वचन सुनकर परमात्मा! **कौन मनुष्य आपके जैसे वक्ता की निर्दोषता को नहीं अनुभव करते?** आप निर्दोष वक्ता हो। आपकी चाहे जो वाणी निकलती हो, परन्तु एक वीतरागस्वभाव की

दृष्टि, वीतरागता का ज्ञान अन्तर्दृष्टि का और वीतरागी चारित्र, यही कहने का आपका आशय वह आपके वक्तापने की निर्दोषता कौन तत्त्वज्ञ विचारक नहीं परखे ? समझ में आया ? **निर्दोषता को नहीं अनुभव करते ?** आपकी वाणी ऐसी अन्दर से निकले, उसके न्याय से अन्दर जो प्रयोजन सिद्ध करना है, विचारक परिशीलन करनेवाले विचारकों को आपकी निर्दोषता को परख लेते हैं।

जो ज्वर से मुक्त हो जाता है,.... बुखार चढ़ा हो, बुखार। ताव समझते हो न ? बुखार। चार और पाँच डिग्री बुखार। गले में उसकी आवाज ही बिगड़ गयी हो। सेठी ! क्या है, भाई ? तुमको बुखार है ? मुँह लाल हो गया हो। यह बुखार-बुखार चढ़ता है न ! कण्ठ में कुछ ठिकाना नहीं होता। बुखार लगता है। और जिसका बुखार छूट गया हो, बुखार चला गया और फिर उसका स्वर—ध्वनि निकले, (उस) स्वर से पहिचाना जाता है कि इसे बुखार नहीं है। इसे बुखार नहीं है। बुखार उतर गया है। बराबर है ?

अब सिद्धान्त। **वह स्वर से सुगम हो जाता है....** उसके स्वर से उसकी परीक्षा सरल हो जाती है कि यह स्वर निकला, इसे बुखार नहीं लगता। **स्वर से उसकी अच्छी तरह पहिचान हो जाती है।** इसी प्रकार अज्ञानी के रोगवाले अज्ञान से भरपूर उसकी वाणी का स्वर और आप निर्दोषता के स्वर में, प्रभु ! अन्तर है। आपकी वाणी और अज्ञानी की वाणी में पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। बुखार चढ़े हुए की ध्वनि ऐं.... ऐं.... करती निकलती है और बुखार बिना की वाणी, वह स्वर ही ऐसा कहता है कि इसे बुखार नहीं है।

इसी प्रकार आपकी वाणी में निर्दोषता प्रगट होने की जो बात की है। चिदानन्द भगवान निर्दोष परमात्मपद कन्द है, केवलज्ञान का कन्द है, उसे प्रगट करो, राग और अल्पज्ञ का नाश करो, ऐसी आपकी निर्दोष वाणी, वह आपकी निरोगता को बतला रही है। निरोगता अर्थात् परमात्मदशा है यह। निरोगता अर्थात् परमात्मा। और वे सब रोगी हैं। समझ में आया ? कहीं न कहीं विपरीतता घुसाकर नैगमनय से ऐसा होता है और संग्रहनय से ऐसा होता है और एवंभूतनय की यह सब तुम बातें करो। सुन न अब। इस नैगमनय से धर्म होता है। णमो अरिहंताणं गिने उसे भी धर्म होता है। कौन गिनता है ?

णमो अरिहंताणं कहना किसे? 'नमः समयसाराय।' चिदानन्द परमात्मा में अन्दर नमा और विकार की प्रसन्नता जिसके हृदय में से गयी, यह उसने णमोकार गिना और उसने णमो अरिहन्ताणं किया, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? ऐसे तो णमो अरिहंताणं कर-करके अभव्य नहीं गिनता? अभव्य गिनता है या नहीं?

समन्तभद्राचार्य कहते हैं भगवान की स्तुति करते हुए (कहते हैं)। हे नाथ! वह अभव्य ग्रन्थीवाला आपको नहीं नमता। अभव्य। अभव्य जैसा फिर दृष्टान्त सब लेना। समझ में आया? क्योंकि आप तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा हो, निर्दोष परमात्मदशा को प्रगट किये हुए हो। जिसे राग का प्रेम और राग की रुचि और निमित्त के संग की रुचि है, ऐसे आपको नमन नहीं करते। वीतरागभाव में नहीं आ सकते। यह ग्रन्थीसत्त्व उस अभव्य को कहा है। जिसने राग की गाँठ लगायी है, वह ग्रन्थीसत्त्व वीतराग को नहीं नम सकता। नवनीतभाई! समझ में आया? वह आपको नहीं नमता।

उसमें आता है न? तुम्हारे विवाह में नहीं आता? 'नहीं नमे रे नहीं नमे, बड़े का लड़का नहीं नमे।' गप्प ही गप्प चलाये हैं। समझे न? यह सब सुना हुआ हो न। गप्प ही गप्प। कहाँ गये फावाभाई? वहाँ सब बातें करे। बड़े का लड़का नहीं नमे। फावाभाई के विवाह प्रसंग में था न! भाई! सब देखा हुआ है। और खुशालभाई के विवाह में। इन दो के विवाह में देखा हुआ है। दूसरे के विवाह में अपने बहुत सबका सब पूरा देखा नहीं। इसमें (संवत्) १९६४ में देखा था और एक १९६८ में। दो में सब देखा हुआ कि यह नहीं नमे रे नहीं नमे। क्या है परन्तु अब? इसमें नमे तो भी क्या और न नमे तो भी क्या?

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा राग को आदर करके तीन काल में नमेगा नहीं। वह बड़े का लड़का! वह तीर्थंकरपद लेनेवाला! वह केवलज्ञान की पर्याय को प्रगट करनेवाला चैतन्यघन, वह राग को आदर करके कभी नहीं नमेगा। समझ में आया? इसलिए कहते हैं कि भगवान! उसकी वाणी में अन्तर पड़ जाता है, हों! बुखार उतरे हुए का स्वर, उस स्वर से पहिचाना जाता है। उसमें सत्तास्वरूप में नहीं आता? सत्तास्वरूप में। कमरा। सत्तास्वरूप है न? कैसा? भागचन्दजी छाजेड़ (कृत)। जयपुर में हो गये न तुम्हारे? या

आसपास में ? यह मन्दसौर-मन्दसौर। यह मन्दसौरवाले आये हैं या नहीं ? मन्दसौर में एक भागचन्दजी छाजेड़ हुए हैं। उन्होंने एक सत्तास्वरूप बनाया है। उसमें भगवान की पहिचान के लिये कहा, प्रभु! एक कमरा बन्द हो और उसमें एक विचिक्षण पुरुष अन्दर वीणा का बजानेवाला, देशी ढग, मूर्च्छा, ग्राम सब जाननेवाला। जिस जगह ऐसा बजावे तो एकदम.... सामने मूर्च्छा आ जाये। एकाकार हो जाये। ऐसा गानेवाला। वह कमरा बन्द है। दूर से एक व्यक्ति चला जाता है, परन्तु उसका जाननेवाला है। तब पहिचानता है कि ओहो! वह उसे देख नहीं सकता। सुननेवाला उस मनुष्य को देख नहीं सकता। मकान बन्द है। परन्तु उसकी ध्वनि के धार से यह कोई विचिक्षण तार का बजानेवाला है और उसे देशी और बराबर बैठी हुई है। समझ में आया ?

इसी प्रकार वाणी के संयोग की ध्वनि से, वह है तो वाणी का संयोग.... समझ में आया ? वह भगवान प्रत्यक्ष ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि को कुछ समवसरण में दिखते नहीं। उनका सर्वज्ञरूप है, वह कहीं दिखता नहीं। जिस प्रकार वह कमरे में बैठा हो, वह दिखता नहीं परन्तु उसकी ध्वनि देशी की धुन, देशी की धुन बजाता हो ऐसी-ऐसी.... कोई जबरदस्त कला का कलाबाज अन्दर है। ऐसा नाथ! आपकी वाणी में जो पूर्वापर अविरोधता आती है, भले आप न दिखाई दो परन्तु यह कलाबाज केवली है, ऐसी परीक्षा किये बिना समकिती रहता नहीं। समझ में आया ? यह केवल (ज्ञानी) कलाबाज हैं। जिन्हें केवलज्ञान की कला पूर्णानन्द की प्रगट हुई, उनकी ध्वनि ऐसी होती है। पूर्ण.... पूर्ण.... पूर्ण.... पूर्ण.... सब बात है। उसे ख्याल में आने पर कि इस वाणी के स्वर से भगवान को पहिचान ले। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि बुखार उतरे हुए की वाणी के स्वर से, यह निरोगी है, ऐसा पहिचान ले। **स्वर से उसकी अच्छी तरह पहिचान हो जाती है।**

भावार्थ :- आपके वचन नानार्थ होकर भी.... अनेक प्रकार से बतावे नित्य-अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध इत्यादि। **यह प्रारम्भ में विरोध मालूम होता है,....** शुरुआत में एक वस्तु नित्य और अनित्य, वही शुद्ध और वही अशुद्ध, ऐसा। **पर अन्त में उसका इस प्रकार परिहार हो जाता है कि आपके वचन स्याद्वाद सिद्धान्त से अनेक अर्थों का**

प्रतिपादन करनेवाले हैं, फिर भी एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं.... या वस्तु अखण्डानन्द प्रभु को सिद्ध करते हैं और या ये सब बातें करने पर भी, वीतरागभाव को सिद्ध करते हैं। **अर्थात् पूर्वापरविरोध से रहित हैं।**

हे भगवन्! आपके हितकारी वचनों को सुनकर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आप निर्दोष हैं.... आप निर्दोष हैं। देखो न! समन्तभद्र ने कहा न, प्रभु! आपने वाणी में ऐसा कहा न, कि जो अनन्त द्रव्य हैं, अनन्त पदार्थ, उनके एक सेकेण्ड का असंख्यवाँ भाग एक समय, उसमें उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीन। वह आपने कहा। हमें ख्याल में आ गया कि प्रभु! एक समय में तीन पकड़े, वह तुम सर्वज्ञ हो। क्या कहा? समय एक, एक सेकेण्ड का असंख्यवाँ भाग और उसमें तीन सत् को आपने देखा। एक पर्याय नयी उत्पन्न हो उसे, पुरानी जाये उसे, ध्रुव रहे उसे। समय एक। समय के खण्ड नहीं, तथापि उस काल में ऐसे तीन हैं, ऐसा देखा। यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त नहीं हो सकता प्रभु! जा। समझ में आया? तुम्हारी वाणी में से हमने निरोगता केवलज्ञान की तुम्हारी है, ऐसा परख लिया है। नवनीतभाई! स्वयंभूस्तोत्र में है न? चौबीस तीर्थंकर की स्तुति। समन्तभद्राचार्य ने की है न? समन्तभद्राचार्य, स्वयंभूस्तोत्र, स्वयंभूस्तोत्र।

यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आप निर्दोष हैं क्योंकि सदोष पुरुष वैसे वचन नहीं बोल सकता। जिस बुखार हो, कण्ठ पकड़ा गया हो, सर्दी हुई हो, वह वाणी स्पष्ट निकल सके नहीं। इसी प्रकार अज्ञानियों की—राग में पकड़े हुए की वाणी सच्ची निकल नहीं सकती। **जैसे कि किसी की अच्छी आवाज सुनकर साफ मालूम हो जाता है कि यह ज्वर से मुक्त है क्योंकि ज्वर से पीड़ित मनुष्य का स्वर अच्छा नहीं होता।**

काव्य ३०

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते,
काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः,
स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति॥

यद्यपि जग के किसी विषय में, अभिलाषा तब रही नहीं।
तो भी विमल वाणी तव खिरती, यदा कदाचित् कहीं कहीं।
ऐसा ही कुछ है नियोग यह, जैसे पूर्णचन्द्र जिनदेव।
ज्वार बढ़ाने को नहीं उगता, किन्तु उदित होता स्वयमेव॥

अन्वयार्थ — (ते) आपकी (क्वापि) किसी भी वस्तु में (वाञ्छा न) इच्छा नहीं है, (च) और (वाक्ववृते) वचन प्रवृत्त होते हैं। सचमुच में (क्वचित् काले) किसी काल में (तथा) वैसा (कः अपि नियोगः) कोई नियोग-नियम ही होता है। (हि) क्योंकि (शीतद्युतिः) चन्द्रमा, (अम्बुधिम् पूरयामि) मैं समुद्र को पूर्ण कर दूँ, (इति) इसलिए (उदंशुः न भवति) उदित नहीं होता, किन्तु (स्वयम् अभ्युदेति) स्वभाव से ही उदित होता है।

भावार्थ — जिस प्रकार चन्द्रमा यह इच्छा रखकर उदित नहीं होता कि मैं समुद्र को लहरों से भर दूँ, पर उसका वैसा स्वभाव ही है कि चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र में लहरें उठने लगती हैं; इसी प्रकार आपको यह इच्छा नहीं है कि मैं कुछ बोलूँ, पर वैसा स्वभाव होने से स्वयं ही आपके वचन प्रगट होने लगते हैं।

काव्य - ३० पर प्रवचन

३० (श्लोक)।

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते,
काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः।

न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः,
स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति॥

यद्यपि जग के किसी विषय में, अभिलाषा तब रही नहीं।
तो भी विमल वाणी तव खिरती, यदा कदाचित् कहीं कहीं।
ऐसा ही कुछ है नियोग यह, जैसे पूर्णचन्द्र जिनदेव।
ज्वार बढ़ाने को नहीं उगता, किन्तु उदित होता स्वयमेव॥

देखो न प्रत्येक गाथा में एक-एक दृष्टान्त नवीन प्रकार का दृष्टान्त भगवान की स्तुति में (देते हैं)। ऐसा सुमेल खा गया। यह तो पवित्र दृष्टि थी और उस लड़के को जहर चढ़ा। सर्प डसा था सर्प। एकदम (जहर) उतर गया। उसके कारण से उतरा है, हों! वहाँ। यह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से (कहा जाता है)।

मुमुक्षु : आपने जोर तो बहुत दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उतर गया परन्तु उसे उतर ही जाये ऐसा वापस। ऐसे प्रकार जहाँ हों वहाँ वह पवित्रता और वहाँ ऐसा हुए बिना रहता नहीं। ऐसी मेलवाली बात यहाँ ली है न! वह उसके कारण से होता है। कहो, समझ में आया इसमें?

अन्वयार्थ :- आपकी किसी भी वस्तु में इच्छा नहीं है,.... हे वीतराग! हे सर्वज्ञदेव! त्रिलोकनाथ गुणाधार! गुण के निधान प्रभु! आपको किसी प्रकार की इच्छा है नहीं। **और वचन प्रवृत्त होते हैं।** ओहोहो! आपका शरीर भी हजारों अनेक योजन में जाये और वाणी दिव्यध्वनि एक दिन में चौबीस घड़ी होती है। छह घड़ी सवेरे, छह घड़ी दोपहर में, छह घड़ी शाम को, छह घड़ी रात्रि में। दूसरे कितने ही हो तो कहे, बहुत लम्बा नहीं बोलेंगे। हम लम्बा नहीं करेंगे। प्रभु! यह भी क्या तेरी दशा? इच्छा कुछ नहीं और चौबीस घण्टे में जब विहार करते हो, तब अनेक योजन चलते हो और वाणी निकले तब चौबीस घड़ी। अड़तालीस घड़ी कहलाती है न? कितनी घड़ी होती है? ६०-६०। ६० घड़ी में २४ घड़ी। काम ही यह? इच्छा नहीं और इतना अधिक काम? धन्धेवाला तो इच्छा बहुत हो तो बहुत काम में रुकता है। इच्छा हो तो चौबीस घण्टे में दस घण्टे रुकता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : १८ घण्टे का तो एक बार कहते थे भाई। १८-१८ घण्टे काम करते थे। नानालालभाई कहते थे न एक बार। दुकान में १८-१८ घण्टे। छह घण्टे में चार-पाँच घण्टे सोवे और उठे और एकदम काम। परन्तु प्रभु! यह तुमको इच्छा नहीं। यह तो तुम्हारी विरुद्धता का पार नहीं। इच्छा नहीं और चौबीस घण्टे ध्वनि, इच्छा नहीं और विहार में अनेक योजन का शरीर से पार होना, यह वह क्या रीति? विरोध-विरोध। परन्तु प्रभु! इस विरोध के जहर को आपने उतार दिया, कहते हैं। विरोध जरा भी है नहीं। सामंजस्यता है, यथार्थता है और वास्तविकता है।

सचमुच में किसी काल में वैसा कोई नियोग-नियम ही होता है। तब वाणी का .... वाणी के काल में निकलती है न, ऐसा कहते हैं। वाणी के काल में वाणी निकलती है। केवलज्ञानी तो चौबीस घण्टे हैं। परन्तु कहीं चौबीस घण्टे वाणी निकलती नहीं। उसके काल में वाणी की ध्वनि छह-छह घड़ी ऐसी निकले। इन्द्र, नरेन्द्र और जब कोई ऐसे पुण्यवन्त हों और आपको प्रश्न करे, इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव या गणधर, (तो) एकदम वाणी निकले उसके काल में। इच्छा नहीं और यह क्या हुआ परन्तु यह? प्रश्न पूछे और उत्तर आवे दिव्यध्वनि में, दिव्यध्वनि में। कहते हैं कि कोई ऐसा नियम अर्थात् सम्बन्ध ही कोई ऐसा है। आता है न उसमें, नहीं? स्तुति में नहीं आता? 'भवि भाजन जोग....'

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, 'भवि भागन जोग...' प्रभु! भव्य के भाग्य के लिये आपका विहार और भवि के भाग्य के लिये आपकी दिव्यध्वनि है। है तो उसके कारण से, हों! दिव्यध्वनि वह तो उपादान के कारण से वाणी निकलती है। देह भी उपादान के कारण से (विहार करती है)। परन्तु वह निमित्त कथन (आवे)। प्रभु! आपको कुछ नहीं परन्तु हमारे पुण्य के कारण, प्रभु! आपका विहार और वाणी का ... होता है। आपको कोई विरोधता और एक ओर वीतरागता। राग नहीं। एक ओर इतने-इतने काम वाणी के और शरीर के।

क्योंकि चन्द्रमा, मैं समुद्र को पूर्ण कर दूँ,.... पूर्णिमा का चन्द्र उगे। वह पूर्णिमा का चन्द्र सोलह कला से उगे। उसे ऐसी इच्छा नहीं कि मैं समुद्र में बाढ़ ला दूँ। बाढ़ कहते हैं न? क्या कहते हैं? ज्वार-ज्वार। ज्वार लाऊँ, उसकी इच्छा चन्द्र को नहीं है। **इसलिए उदित नहीं होता,....** चन्द्र समुद्र के पानी को ज्वार लाने के लिये उदय नहीं होता। परन्तु प्रभु! जहाँ चन्द्र का उदय हुआ (वहाँ) पानी में ज्वार आये बिना नहीं रहता। **किन्तु स्वभाव से ही उदित होता है।** यह दृष्टान्त दिया है न रत्नकरण्ड श्रावकाचार में। क्या कहलाता है बजाते हैं उसे? ढोलक। ढोलक को इच्छा नहीं होती परन्तु हाथ पड़े, वहाँ आवाज निकलती है। ढोलक को। क्या कहलाता है यह? नगारा-नगारा। हाथ मारे, वहाँ आवाज निकलती है। प्रभु! उसे इच्छा नहीं। उसी प्रकार आपको इच्छा नहीं, परन्तु पुण्यवन्त प्राणी आवे, वहाँ दिव्यध्वनि निकलती है।

इसी प्रकार आत्मा के अन्दर में भी पुरुषार्थ की उग्रता हो तो शक्ति की व्यक्तता हुए बिना रहती नहीं। कोई फेरफार वापस द्रव्य में होता नहीं। द्रव्य को कुछ फेरफार होता नहीं। परन्तु जितना एकाग्र हो, उस शक्ति की व्यक्तता प्रगट होती ही है। यह वह कोई विरोध तत्त्व। प्रभु! आपने कहा, वह अलौकिक बात की है। समझ में आया? यह चन्द्रमा, समुद्र को पूर्ण करूँ—ऐसी इच्छा से उदय नहीं होता, तथापि स्वभाव से उदय होता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार चन्द्रमा यह इच्छा रखकर उदित नहीं होता कि मैं समुद्र को लहरों से भर दूँ,.... इस समुद्र की लहरों से ज्वार कर दूँ, ऐसी इच्छा चन्द्र को नहीं है। **पर उसका वैसा स्वभाव ही है कि चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र में लहरें उठने लगती हैं; इसी प्रकार आपको यह इच्छा नहीं है कि मैं कुछ बोलूँ, पर वैसा स्वभाव....** उपादान, वाणी की योग्यता से निकलती है। **आपके वचन प्रगट होने लगते हैं।** अन्दर में से ध्वनि उठती है। इन्द्र और नरेन्द्र भी सुनकर.... आहाहा! बाघ और बिल्ली साथ में बैठे हों, हिरण और सिंह बैठे हों, सर्प और मोर बैठे हों, सर्प और चूहा। इच्छा नहीं और यह वाणी! प्रभु! यह वीतरागता की कोई अलौकिकता है। मानो विरोध-विरोध लगे परन्तु उसमें विरोध परिहार है। उसमें ही विरोध का परिहार है। व्यवहार एक ओर

हाँ कहे तथा दूसरी ओर कहे कि आदरणीय नहीं। निश्चय एक ही आदरणीय है। दो नय का ज्ञान करना बराबर है, परन्तु आदरणीय एक ही बात है। दो नय का विषय आदरणीय नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया? **वैसा स्वभाव होने से स्वयं ही आपके वचन प्रगट होने लगते हैं।**

काव्य ३१

गुणा गंभीराः परमाः प्रसन्नाः,
बहुप्रकारा बहवस्तवेति।
दृष्टोऽयमन्तस्तवने न तेषाम्,
गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति॥

हे प्रभु! तेरे गुण प्रसिद्ध हैं, परमोत्तम हैं, गहरे हैं।
बहु प्रकार हैं, पाररहित हैं, निज स्वभाव में ठहरे हैं॥
स्तुति करते-करते यों देखा, छोर गुणों का आखिर में।
उनमें जो नहिं कहा, रहा वह, और कौन गुण जाहिर में॥

अन्वयार्थ — (तव) आपके (गुणाः) गुण (गंभीराः) गम्भीर, (परमाः) उत्कृष्ट, (प्रसन्नाः) उज्ज्वल, (बहुप्रकाराः) अनेक प्रकार के और (बहवः) बहुत हैं, (इति अयम्) इस प्रकार (स्तवनेन) स्तुति के द्वारा ही (तेषां गुणानां) उन गुणों का (अन्तो दृष्टः) अन्त देखा गया है। (अतः परः गुणानां अन्तः किम् अस्ति) इसके सिवाय गुणों का क्या अन्त होता है? अर्थात् नहीं।

भावार्थ — स्तुति में आपके समस्त गुण कहने की सामर्थ्य नहीं है, इसलिए उनका अन्त हो जाता है — ऐसा कहते हैं क्योंकि अन्य प्रकार से उनका अन्त सम्भव नहीं है।

काव्य - ३१ पर प्रवचन

३१ (श्लोक)।

गुणा गंभीराः परमाः प्रसन्नाः,
बहुप्रकारा बहवस्तवेति।
दृष्टोऽयमन्तस्तवने न तेषाम्,
गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति॥

हे प्रभु! तेरे गुण प्रसिद्ध हैं, परमोत्तम हैं, गहरे हैं।
बहु प्रकार हैं, पाररहित हैं, निज स्वभाव में ठहरे हैं॥
स्तुति करते-करते यों देखा, छोर गुणों का आखिर में।
उनमें जो नहिं कहा, रहा वह, और कौन गुण जाहिर में॥

सब हृदय के उद्गार व्यक्त किये हैं, हों! क्या कहते हैं?

अन्वयार्थ :- आपके गुण गम्भीर,.... ऐसे गम्भीर। पाठ में '**गंभीराः**' अर्थ में कहा गम्भीर.... गम्भीर। कहाँ-कहाँ स्वभाव अल्प क्षेत्र और अनन्त गुणों की गम्भीरता। जैसे फुंसी—यह फोड़ा होता है न फोड़ा। गम्भीर फोड़ा नहीं कहते? यह फोड़ा गम्भीर है। उसमें वाट (बत्ती) जाती है परन्तु ठेठ नहीं जाती, ऐसा नहीं कहते डॉक्टर? फोड़ा होता है न फोड़ा? गम्भीर-गम्भीर। क्या कहते हैं उसे दूसरी भाषा में? ...बस! वह पर... वह फोड़ा भरे और निकले, भरे और निकले। तो गम्भीर कहते हैं। प्रभु! आपकी पर्याय में सब वस्तु भले परिणम गयी, परन्तु वस्तु में, तेरी इतने गुण की गम्भीरता अगाध... अगाध.... तेरी गम्भीरता। उसी प्रकार आत्मद्रव्य के अनन्त गुणों की अगाध गम्भीरता।

उत्कृष्ट, उज्ज्वल.... वह गम्भीर है, अनन्त गुण उत्कृष्ट हैं और उज्ज्वल अर्थात् निर्मल हैं और **अनेक प्रकार के....** वापस अनेक प्रकार—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, स्वच्छत्व इत्यादि। ऐसे **बहुत हैं, इस प्रकार स्तुति के द्वारा ही उन गुणों का अन्त देखा गया है।** हमने तो स्तुति करके ऐसा करके मानो, अन्त पाया कहते

हैं। परन्तु प्रभु! **इसके सिवाय गुणों का क्या अन्त होता है?** उन गुण का अन्त तो तुझमें सब है, ऐसा अन्त आ जाता है। बस, हो गया। हमारी वाणी में कहीं पार नहीं पड़ता। समस्त गुणों में—तुझमें समा जाये, वहाँ अन्त है। समझ में आया?

भावार्थ :- स्तुति में आपके समस्त गुण कहने की सामर्थ्य नहीं है,.... समझ में आया? **इसलिए उनका अन्त हो जाता है....** वहाँ वाणी में अन्त हो जाता है। दूसरे प्रकार से कहें तो वाणी द्वारा, विकल्प द्वारा आपके अनन्त गुण जहाँ गिनने लगे, वहाँ अन्त नहीं आता। अनन्त गुण उसमें है। जहाँ आत्मा है, वहाँ अनन्त गुण और वहाँ अन्त आ गया। यह उसकी उत्कृष्ट भक्ति और स्तुति कहने में आती है। वह अनन्त गुण का स्वीकार वहाँ उसे अन्त आया। श्रद्धा-ज्ञान में उसका भान हुआ। अनन्त गुण का एकरूप ऐसा चैतन्य वाणी द्वारा, विकल्प द्वारा पार नहीं पड़ता। तैतीस-तैतीस सागर तक सर्वार्थसिद्धि के देव सम्यग्दृष्टि बारह अंग के पढ़े हुए, वे चर्चा करते-करते तैतीस सागर चले जायें। तैतीस सागरोपम किसे कहते हैं? समझ में आया? कितना काल!

एक पल्योपम, असंख्यवें भाग में असंख्यात अरब वर्ष जाते हैं। एक पल्य के असंख्यवें भाग में असंख्यात अरब जाते हैं। अर्थात् ऋषभदेव भगवान का ८४ लाख (पूर्व) का आयुष्य—८४ लाख पूर्व का, वह पल्य के असंख्यवें भाग में ८४ लाख पूर्व असंख्य जाते हैं। ऐसे-ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम। ऐसे तैतीस सागर तक क्षायिक समकिती और बारह अंग के पाठक देव वहाँ चर्चा करते हैं। अन्त में तो प्रभु अन्ततः तो विकल्परहित स्वरूप में ही आयेंगे। इसके अतिरिक्त पार—अन्त आवे, ऐसा नहीं है। आ गया कि अन्दर में इतने अनन्त गुण हैं, ऐसी श्रद्धा और ज्ञान हुआ, वहाँ सब अन्त आ गया। बाकी विकल्प से अन्त आवे, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

स्तुति में आपके समस्त गुण कहने की सामर्थ्य नहीं है, इसलिए उनका अन्त हो जाता है.... वाणी में कहते हैं परन्तु वास्तव में अन्दर में है। **अन्य प्रकार से उनका अन्त सम्भव नहीं है।** उस गुण का अन्त तो प्रभु तूने लिया। तुझमें जितने हैं तूने जाने। और इसके अतिरिक्त वाणी में उनकी गिनती से कहा जा सके, ऐसा नहीं है। इस प्रकार वचन की, विकल्प की स्तुति छोड़कर निर्विकल्प स्तुति में समा जाना, उसे भगवान की स्तुति कहा जाता है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल ३, रविवार, दिनांक : २-९-१९६२
काव्य - ३२ से ४०, प्रवचन नं.-०७

काव्य ३२

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या
स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं! प्रणमामि नित्यम्,
केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्॥

किन्तु न केवल स्तुति करने से, मिलता है निज अभिमत फल।
इससे प्रभु को भक्तिभाव से, भजता हूँ प्रतिदिन, प्रतिपल॥
स्मृति करके सुमिरन करता हूँ, पुनि विनम्र हो नमता हूँ।
किसी यत्न से भी अभीष्ट-साधन की इच्छा रखता हूँ॥

अन्वयार्थ — (स्तुत्या हि) स्तुति के द्वारा ही (अभिमतम् न) इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती (परम्) किन्तु (भक्त्या स्मृत्या च प्रणत्या) भक्ति, स्मृति, और नमस्कृति से भी होती है; (ततः) इसलिए मैं (नित्यम्) हमेशा (देवम् भजामि, स्मरामि, प्रणमामि) आपकी भक्ति करता हूँ, आपका स्मरण करता हूँ, आपको प्रणाम करता हूँ (हि) क्योंकि (फलम्) इच्छित वस्तु की प्राप्तिरूप फल को (केन अपि उपायेन) किसी भी उपाय से (साध्यम्) सिद्ध कर लेना चाहिए।

भावार्थ — हे भगवन्! आपकी स्तुति से, भक्ति से, स्मृति-ध्यान से और प्रणति से जीवों को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है; इसलिए मैं प्रतिदिन आपकी स्तुति करता हूँ, भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ और नमस्कार करता हूँ क्योंकि मुझे जैसे बने, वैसे अपना कार्य सिद्ध करना है।

यह विषापहार नाम का स्तोत्र है। धनंजय महाकवि हुए हैं, उन्होंने यह एक विषापहार स्तोत्र बनाया है। उनके पुत्र को सर्प ने डसा था। सुनी है न बात? धनंजय कवि के पुत्र को सर्प डसा था, सर्प उसको भगवान के पास ले जाकर डाला और अपने

में अन्दर आत्मा में विचारधारा में विषापहार स्तोत्र रच गया। उसमें सहज ऐसा निमित्त मिल गया कि उसका भी सर्पडंस का (विष) उतर गया और अपने में भी राग-द्वेष, अपने स्वभाव की साधन की भक्ति में भगवान की भक्ति अर्थात् अपने स्वभाव की भक्ति। भगवान की भक्ति व्यवहार से विकल्प से हो तो पुण्यबन्ध का कारण है। परन्तु अन्तर में चैतन्य महाप्रभु की अन्तर में राग-द्वेष और पुण्य-पाप के विकल्प से रहित अन्तर में जो धुन लगाते हैं, अन्दर श्रद्धा-ज्ञान (पूर्वक), वे आत्मा की—भगवान की वास्तव में भक्ति कही जाती है। वह भक्ति की है। बाहर में भगवान की भक्ति व्यवहार से कही जाती है। ३१ गाथा हो गयी।

काव्य - ३२ पर प्रवचन

३२वाँ बोलो।

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या
स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं! प्रणमामि नित्यम्,
केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्॥

किन्तु न केवल स्तुति करने से, मिलता है निज अभिमत फल।
इससे प्रभु को भक्तिभाव से, भजता हूँ प्रतिदिन, प्रतिपल॥
स्मृति करके सुमिरन करता हूँ, पुनि विनम्र हो नमता हूँ।
किसी यत्न से भी अभीष्ट-साधन की इच्छा रखता हूँ॥

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हैं तो उसमें अपनी स्तुति साथ में आ गयी है। हे भगवान! ओ परमात्मा! सर्वज्ञदेव जिनपति! गणधरादि के भी आप पति-महास्वामी हो और अपने आत्मा में भी कहते हैं कि हे आत्मा! अपनी निर्मल पर्याय जो प्रगट हुई, उसके भी स्वामी तुम चिद्घन ध्रुवस्वभाव वह स्वामी है। समझ में आया? ....भाई! क्या नहीं समझ में आया?

भगवान को लक्ष्य करके ऐसा कहते हैं कि आप जिनपति हो। जिन अर्थात्

गणधर सन्तों के आप स्वामी हो। वह व्यवहार से। अपने आत्मा में अपनी शुद्ध श्रद्धा विकार से रहित आपने आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता ऐसी अपनी जो प्रज्ञा— पर्याय, उसका चिद्घन ध्रुव चैतन्यमूर्ति, अनादि-अनन्त आत्मा, उस प्रजा का वह स्वामी है। नरभेरामभाई! कौन सी प्रजा? आहाहा! अपना शुद्ध चैतन्यप्रभु अनादि-अनन्त अकारणीय अहेतु ध्रुव चैतन्यप्रभु कारणप्रभु अनादि-अनन्त वस्तु! उसके आश्रय से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उस पर्याय का स्वामी चैतन्यघन द्रव्यस्वभाव है। नवनीतभाई! उस अनुसार यहाँ स्तुति करते हैं।

अन्वयार्थ :- स्तुति के द्वारा ही इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती.... प्रभु! अकेली स्तुति के द्वारा अभिलाषित वस्तु की प्राप्ति, अकेले से नहीं होती। **किन्तु भक्ति, स्मृति, और नमस्कृति....** आपके स्वरूप को समझकर, उसमें भक्ति अर्थात् अन्तर का भजन करना और उसको स्मृति में लाना। अपना शुद्ध स्वभाव या सर्वज्ञ परमात्मा का स्वभाव, अन्तर में स्मृति में लाना। समझ में आया? **और नमस्कृति....** नमःकृति। चैतन्य का आदर करके विकार और संयोग का आदर न करना और सच्चिदानन्द प्रभु अपना शुद्ध धातु आनन्दकन्द, उसका नमस्कृत अर्थात् आदर करके अन्दर में लीन होना, उसका नाम नमस्कृति कहा जाता है।

मुमुक्षु : शरीर की क्रिया से नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर की क्रिया जड़ है। वह कहाँ क्रिया है? वह तो मिट्टी चमड़ी है, अजीवतत्त्व है। उसकी क्रिया से तो कोई पुण्य भी नहीं होता, उसकी क्रिया से तो पाप भी नहीं होता, उसकी क्रिया से कोई संवर, निर्जरा धर्म भी नहीं होता। कहाँ गये तुम्हारे शोभालालजी? आये हैं? कहाँ हैं? नहीं। बहुत दूर से आये हैं तो समीप बैठना चाहिए न? आओ, यहाँ सेठ के पास। यह भक्ति चलती है।

मुमुक्षु : भगवान की?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान की।

अपना आत्मा पूर्णानन्द से भरा सर्वज्ञस्वभाव आनन्द से भरा पड़ा है, वस्तुस्वभाव। इतनी स्तुतिमात्र से प्रभु, अपनी पर्याय में निर्मल शान्ति प्राप्त नहीं होती। परन्तु उसकी

भक्ति—भजन अन्दर में करना। अरे! निर्विकल्प चैतन्यप्रभु वीतरागस्वभाव भरा पड़ा है, उसकी अन्दर एकाग्रता होकर भक्ति करना, ऐसे चैतन्य को स्मृति में अन्दर में लाना और विकार का विस्मरण हो जाना, उसका नाम भगवान की और आत्मा की भक्ति कहने में आता है। भारी कठिन जीव को। सेठ! यहाँ ऐसी बात है। सेठी! भगवान की बाहर की भक्ति कहाँ गयी? वह तो विकल्प आता है, शुभभाव होता है, हो। साथ में है, विकल्प उठा है न? परन्तु उसके पीछे अपना शुद्ध निर्मलानन्द प्रभु आत्मा के अन्तर में घुसकर दृष्टि, ज्ञान और एकता (करना), उसको भगवान की स्तुति कही जाती है, उसको भक्ति कहा जाता है। उसको स्मरण में लाना। मैं पूर्ण ब्रह्म आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसा स्मरण में लाना और पुण्य-पाप का विस्मरण हो जाना, इसका नाम भगवान की स्मृति और नमस्कृति है। उसका नाम भगवान की नमस्कृति—नमस्कार किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! गजब भाई! यह व्यवहार तो कहाँ जाये? व्यवहार हो, जाननेयोग्य वह चीज़ उत्पन्न होती है। ज्ञेय रूप से व्यवहार आता है। परन्तु वह अपना परमार्थ चैतन्य में यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान, भक्ति बिना, वह तो अकेले पुण्यबन्ध का ही कारण है। समझ में आया?

कहते हैं, हे प्रभु! **इसलिए मैं हमेशा आपकी भक्ति करता हूँ,....** निर्विकल्प आनन्द की ओर मेरा चौबीसों घण्टे अन्तर रटन रहता है। है न हमेशा? हमेशा मुख्य चैतन्यप्रभु अखण्ड आनन्द का नाथ, उसका मुझे बारम्बार स्मरण आता है। और प्रभु! दूसरे प्रभु का भी मुझे विस्मरण हो जाता है। समझ में आया? **आपकी भक्ति करता हूँ, आपका स्मरण करता हूँ, आपको प्रणाम करता हूँ क्योंकि इच्छित वस्तु की प्राप्तिरूप फल को किसी भी उपाय से सिद्ध कर लेना चाहिए।** अर्थात् कि किसी भी उपाय से भगवान परमात्मा की भक्ति करते हुए, अपने अन्तर स्वरूप में भक्ति हो जाना, उस उपाय से आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है। समझ में आया? अकेली बाह्य (नहीं), चैतन्य की भक्ति कहते हैं।

चैतन्य अनादि-अनन्त ध्रुव धातु परमानन्द की मूर्ति द्रव्यस्वभाव की एकाग्रता करना, वह स्मृति, भक्ति और नमस्कृति कहा जाता है। बाहर से भगवान की भक्ति,

स्तुति, शुभ विकल्प है तो पुण्यबन्ध का कारण है। परमार्थ से इस भक्ति के बिना वह पुण्य तो मात्र पापानुबन्धी पुण्य है।

भावार्थ :- हे भगवन्! आपकी स्तुति से, भक्ति से, स्मृति-ध्यान से और प्रणति से.... प्रणति अर्थात् नमस्कार। **जीवों को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है; इसलिए मैं प्रतिदिन आपकी स्तुति करता हूँ, भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ और नमस्कार करता हूँ क्योंकि मुझे जैसे बने, वैसे अपना....** स्वरूप कारणपरमात्मा, जो अपना स्वभाव, उसमें किसी भी रीति से प्रयत्न करके, ध्यान करके, श्रद्धा करके अपने में रहना, उससे अभिमत अर्थात् अभिलाषित फल की प्राप्ति होती है। उसमें मोक्ष की प्राप्ति होती है, दूसरे से होती नहीं।

काव्य ३३

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं,
नित्यं परं ज्योतिरनन्तशक्तिम्।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं,
नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम्॥

इसीलिए शाश्वत तेजोमय, शक्ति अनन्तवन्त अभिराम।
पुण्य-पाप विन परमपुण्य के, कारण परमोतम गुणधाम॥
वन्दनीय, पर जो न और की, करे वन्दना कभी मुनीश।
ऐसे त्रिभुवन-नगर-नाथ को, करता हूँ प्रणाम धर शीश॥

अन्वयार्थ — (ततः) इसलिए (अहम्) मैं (त्रिलोकी-नगराधिदेवम्) तीन लोकरूप नगर के अधिपति, (नित्यम्) विनाशरहित, (परम्) श्रेष्ठ, (ज्योतिः) ज्ञानज्योतिस्वरूप, (अनन्त-शक्तिम्) अनन्त वीर्य से सहित, (अपुण्यपापम्) स्वयं पुण्य और पाप से रहित होकर भी (परपुण्यहेतुम्) दूसरे के पुण्य में कारण तथा (वन्द्यम्) वन्दना करने के योग्य होकर भी स्वयं (अविन्दतारम्) किसी को नहीं वन्दनेवाले (भवन्तम्) आपको (नमामि) नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ — हे भगवन्! आप तीनलोक के स्वामी हैं; आपका कभी विनाश नहीं होता; आप सर्वोत्कृष्ट हैं; केवलज्ञानरूप ज्योति से प्रकाशमान हैं; आपमें अनन्त बल है; आप स्वयं पुण्य-पाप से रहित हैं, पर अपने भक्तजनों के पुण्यबन्ध में निमित्तकारण हैं; आप किसी को नमस्कार नहीं करते, पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं; आपकी इन विचित्रताओं से मुग्ध होकर, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

काव्य - ३३ पर प्रवचन

---

३३ (श्लोक)।

ततस्त्रिलोकीनगराधिदेवं,
नित्यं परं ज्योतिरनन्तशक्तिम्।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं,
नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम्॥

इसीलिए शाश्वत तेजोमय, शक्ति अनन्तवन्त अभिराम।
पुण्य-पाप विन परमपुण्य के, कारण परमोतम गुणधाम॥
वन्दनीय, पर जो न और की, करे वन्दना कभी मुनीश।
ऐसे त्रिभुवन-नगर-नाथ को, करता हूँ प्रणाम धर शीश॥

देखो! आत्मा की स्तुति और भगवान की स्तुति के दो प्रकार साथ में चलते हैं। कहते हैं, **अन्वयार्थ :- इसलिए मैं तीन लोकरूप नगर के अधिपति,....** भाई! ऐसा कहा। देखो! '**त्रिलोकी-नगराधिदेवम्**' हे परमात्मा! तीन लोकरूप नगर के आप अधिपति हो। तीन लोक और तीन काल का ज्ञान आपको एक समय में प्रगट हो गया है तो इस अपेक्षा से भगवान! तीन लोकरूप नगर के आप अधिपति हो। समझ में आया? तीन काल-तीन लोक अपने भगवान की ज्ञान की पर्याय में आ गये तो तीन काल, तीन लोक नगर के स्वामी भगवान हैं। भगवान का हुकम चलता है। सर्व द्रव्य की पर्याय चलने में, द्रव्य-गुण रहने में भगवान की आज्ञा चलती है। जैसा भगवान ने देखा, ऐसी उसमें पर्याय होती है। यह सवेरे आया था न? सेठ प्रसन्न हुए थे न उसमें।

'जो जो देखी वीतराग ने...' सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ नगराधिपति तीन लोक के नगर के स्वामी, तीन काल-तीन लोक का ज्ञान आपकी पर्याय में आ गया है। हे नाथ! आपकी मैं स्तुति करता हूँ।

'नित्यम्' विनाशरहित.... हो। आप तो नित्य विनाशरहित हो। अन्तर में देखो तो आत्मा का द्रव्य का स्वभाव तीन काल-तीन लोक देखने का है तो इस अपेक्षा से आत्मा भी तीन लोकरूपी नगर का स्वामी है। तीन लोकरूप नगर का स्वामी भगवान आत्मा है। प्रत्येक आत्मा। आत्मा में तीन काल-तीन लोक जानने-देखने की शक्ति पड़ी है, इस अपेक्षा से आत्मा ही तीन लोकरूप नगर का अधिपति है। समझ में आया?

हे नाथ! **तीन लोकरूप नगर के अधिपति,....** और आप **विनाशरहित....** हैं। भगवान को भी कहते हैं। आपकी केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई, (वह) नाश नहीं होती। चार गति में तो सर्वार्थसिद्धि का भी (भव) मिले, फिर नाश होता है। प्रभु! आपको अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य नाश नहीं होते। उसी प्रकार मेरे आत्मा में भी नित्यपना, ध्रुवपना, अनन्त आनन्द से भरा पड़ा है, उसका कभी नाश नहीं होता। नरक का भाव हुआ, स्वर्ग का भाव हुआ, ऊपर चाहे जितने विकल्प उठें, परन्तु अन्तर स्वरूप में तो किंचित् भी खण्ड, कमी या दोष नहीं होता। अखण्डानन्द प्रभु पूर्णानन्द से भरा है, उसकी नित्यता की शाश्वतता में कभी अशाश्वतता या अनित्यता नहीं आती। आत्मा की बात चलती है, हों! अन्दर ध्रुव... ध्रुव... ध्रुवस्वरूप त्रिकाल है न!

आप भगवान **श्रेष्ठ, ज्ञानज्योतिस्वरूप,....** हैं। अनन्त ज्ञानस्वरूप हैं। मेरा आत्मा भी मैं अनन्त ज्ञानस्वरूप हूँ। **अनन्त वीर्य से सहित,....** है। अनन्त बल से सहित। परमात्मा! आपको अनन्त वीर्य प्रगट हुआ, आप कृत्यकृत्य हो गये। आपको कुछ करना (बाकी नहीं) रहा। उसी प्रकार मेरा आत्मा भी वस्तु स्वभाव से कृतकृत्य ही है। वस्तु स्वभाव त्रिकाल अखण्डानन्द प्रभु कृतकृत्य है। पर्याय में पुरुषार्थ से पूर्णता प्राप्त करना (बाकी है), वह तो पर्याय में है, वस्तु में तो पूर्णता भरी पड़ी है। ऐसे अपने भगवान आत्मा की भी स्तुति और परमात्मा की भी, दोनों की चलती है।

हे नाथ! आप तो **पुण्य और पाप से रहित होकर भी....** आप में तो पुण्य-पाप दोनों नहीं है। परन्तु आपके भक्त को पुण्य का कारण है। आप में पुण्य-पाप नहीं है। परन्तु आपकी भक्ति करता है, उसको पुण्य का कारण है, भगवान। यह आत्मा अपनी भक्ति करता है तो वह पवित्रता का कारण आत्मा है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा साक्षात् समवसरण में विराजते हों, परन्तु उनकी भक्ति में उनके पास पुण्य-पाप नहीं है, परन्तु भक्तों को पुण्य के भाव में निमित्त कारण हैं। पुण्य के भाव में।

यह आत्मा अपनी निर्मल परिणति का द्रव्य कारण है। परद्रव्य परमात्मा पुण्य का निमित्त है और आत्मा अखण्ड शुद्ध चैतन्यमूर्ति वह निर्मल मोक्षमार्ग का कारण है। आत्मा को पुण्य और पाप का कारण आत्मद्रव्य है नहीं। समझ में आया? सेठी! पुण्य-पाप होता है, हों! परन्तु पुण्य-पाप का कारण द्रव्यस्वभाव नहीं है। वह वर्तमान पर्याय का अपराध है। पुण्य-पाप का भाव होना, वह वर्तमान दशा का अपराध है। निरपराधी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और वीतरागता उसका, हे नाथ! हे चैतन्यस्वामी! हे महा चैतन्यप्रभु! स्वयं, हों! चैतन्य महाप्रभु ध्रुवस्वभाव पवित्रता का कारण है। आप में पवित्रता पूर्ण पड़ी है, उसमें से पर्याय आती है तो उसका कारण आप हैं, ऐसा अपनी भक्ति और स्तुति करते हैं। कहो, समझ में आया?

वन्दना करने के योग्य होकर भी.... प्रभु! आप वन्दन करने के योग्य हैं, तो भी आप किसी को वन्दन नहीं करते। आप वन्दन करने के योग्य हैं परन्तु आप किसी को वन्दन नहीं करते। भगवान करते हैं किसी को? 'विनयवन्त भगवान कहावे, नहीं किसी को शीश नमावे।' 'विनयवन्त भगवान कहावे' परमात्मा विनयवन्त। पूर्ण नम्रता, नम्रता। अनन्त वीतरागता। 'नहीं किसी को शीश नमावे।' सर्वज्ञ भगवान किसी को वन्दन नहीं करते। इच्छा नहीं है, अल्पज्ञ नहीं है, पूर्ण में वन्दन किसको करना? समझ में आया? दूसरे सम्प्रदाय में ऐसा चलता है कि सर्वज्ञ परमात्मा जब समवसरण में बैठते हैं, तब चार तीर्थ को वन्दना करते हैं। 'नमो तीथस्स'! ऐसा नहीं होता। समझ में आया? दूसरे सम्प्रदाय में। जैन के सम्प्रदाय में ऐसी बात चलती है कि सर्वज्ञ तीर्थंकर जब समवसरण में बैठते हैं, वह तो इन्द्र की रची हुई समवसरण दशा है। यहाँ अपने समवसरण बनाया

है न! सेठ ने देखा? नहीं देखा होगा। अपने यहाँ समवसरण है। देखा? उसमें भगवान है। यहाँ थोड़ा नमूना है, पूरा तो कहाँ (से होगा)?

भगवान वहाँ साक्षात् विराजते हैं। वहाँ तो इन्द्रों ने स्वर्ण का स्तम्भ, मानस्तम्भ सोने का और हीरा-माणिक का रत्न। स्वयं तो वीतराग है। शरीर सिंहासन पर भी नहीं है। निरालम्बी परमात्मदशा,.... थोड़ी बाकी है, अपनी इतनी योग्यता है तो है। वह छूट जायेगा तो सिद्ध हो जायेंगे। समझ में आया? भगवान के समवसरण में, कहते हैं कि प्रभु! आपको इन्द्र, चक्रवर्ती, बाघ और सिंह नमन करते हैं, परन्तु प्रभु! आप किसी को नमन नहीं करते। आपकी विलक्षणता अलग है। कहते हैं न दूसरे लोग? वह वन्दन करे तो कहे, नमोस्तु। तो वह भी सामने नमोस्तु कहे। ऐसा नहीं है। सर्वज्ञ परमात्मा मेमं ऐसा नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा शुद्ध द्रव्यस्वभाव को निर्मल पर्याय वन्दन करती है, आदर करती है, परन्तु द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। समझ में आया? फिर से। भगवान आत्मा का अनुभव श्रद्धा-ज्ञान किया तो पर्याय में वन्दनयोग्य आत्मा है, ऐसा पर्याय में हुआ। परन्तु द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। सेठी! वह तो पूरा भरा पड़ा है दृष्टि का विषय, सम्यग्दर्शन का विषय। वह द्रव्यस्वभाव किसी को वन्दन नहीं करता। पर्याय में निर्मलता हुई, वह द्रव्यस्वभाव को वन्दन और सत्कार करती है। समझ में आया?

कहते हैं, ओहो! प्रभु! आप किसी को वन्दन नहीं करते।

भावार्थ :- हे भगवन्! आप तीनलोक के स्वामी हैं; आपका कभी विनाश नहीं होता; आप सर्वोत्कृष्ट हैं; केवलज्ञानरूप ज्योति से प्रकाशमान हैं; आपमें अनन्त बल है; आप स्वयं पुण्य-पाप से रहित हैं, पर अपने भक्तजनों के पुण्यबन्ध में निमित्तकारण हैं;.... देखो! पुण्यबन्ध में, हों! भगवान के कारण से धर्म होता है—संवर, निर्जरा, ऐसा नहीं है। आहाहा! लोग ऐसे चिल्लाहट मचा जाते हैं। भगवान की दिव्यध्वनि से भी आत्मा में सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा नहीं है। समझ में आता है कुछ? भगवान तो परद्रव्य है, उनकी वाणी भी जड़ है तो उस पर लक्ष्य करता है, तब तक तो उसको

शुभभाव का पुण्यभाव होता है। सम्यग्दर्शन में वह वास्तव में कारण नहीं है। अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में वास्तविक कारण अपना द्रव्यस्वभाव है। जगत को इतना अभी कठिन पड़ता है। लोग कहे, व्यवहार का लोप (होता है)। अरे! सुन तो सही। तेरा व्यवहार.... व्यवहार आता है, होता है, कौन इनकार करता है? यह क्या है? यह विकल्प उठता है, यह व्याख्यान नहीं है? भगवान की भक्ति (होती है)। परन्तु वह सब राग की—पुण्य की जाति है। उसकी हद और मर्यादा पुण्य जितनी है। उससे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, (ऐसा) तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु : भगवान की श्रद्धा....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान की श्रद्धा करने से तो शुभराग होता है। अपना चिदानन्द प्रभु, उसकी श्रद्धा करने से निर्मल पर्याय होती है। बात तो ऐसी है, तीन काल-तीन लोक में। समझ में आया?

प्रभु! **आप किसी को नमस्कार नहीं करते, पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं; आपकी इन विचित्रताओं से मुग्ध होकर, मैं भी आपको नमस्कार करता हूँ।** आपकी यह विचित्रता (देखकर मैं) नम जाता हूँ। प्रभु! मैं आपका दास हूँ। उसी प्रकार अपनी निर्मल पर्याय त्रिकाली द्रव्य की दास है। त्रिकाल चैतन्यद्रव्य की निर्मल पर्याय दास है। मोक्षमार्ग की सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय प्रगट हुई, वह त्रिकाल द्रव्य की दास है। परन्तु त्रिकाल द्रव्य किसी का दास नहीं है। समझ में आया? यह तो जगत से उलट-पलट की बात है।

काव्य ३४

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं,
त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।
सर्वस्य मातारममेयमन्यै-
र्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि॥

जो नहिं स्वयं शब्द रस सपरस, अथवा रूप गन्ध कुछ भी।
पर इन सब विषयों के ज्ञाता, जिन्हें केवली कहें सभी॥
सब पदार्थ जो जानें पर न, जान सकता कोई जिनको।
स्मरण में न आ सकते हैं जो, करता हूँ सुमरन उनको॥

अन्वयार्थ — (अशब्दम्) शब्दरहित, (अस्पर्शम्) स्पर्शरहित (अरूपमगन्धम्) रूप और गन्धरहित तथा (नीरसम्) रसरहित होकर भी (तद्विषयावबोधम्) उनके ज्ञान से सहित (सर्वस्य मातारम्) सबके जाननेवाले होकर भी (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (अमेयम्) नहीं जानने के योग्य तथा (अस्मार्यम्) जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता—ऐसे (जिनेन्द्रम् अनुस्मरामि) जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिक्षण स्मरण करता हूँ, ध्यान करता हूँ।

भावार्थ — हे भगवन्! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित हैं, अमूर्तिक हैं; फिर भी रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द को आप जानते हैं। हे प्रभु! आप सबको जानते हैं, पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मन से भी कोई स्मरण नहीं कर सकता, तथापि मैं अपने बाल-साहस से आपका क्षण-क्षण में स्मरण करता हूँ।

काव्य - ३४ पर प्रवचन

---

३४ (श्लोक)।

अशब्दमस्पर्शमरूपगन्धं,
त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।
सर्वस्य मातारममेयमन्यै-
र्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि॥

जो नहिं स्वयं शब्द रस सपरस, अथवा रूप गन्ध कुछ भी।
पर इन सब विषयों के ज्ञाता, जिन्हें केवली कहें सभी॥
सब पदार्थ जो जानें पर न, जान सकता कोई जिनको।
स्मरण में न आ सकते हैं जो, करता हूँ सुमरन उनको॥

दोनों में विरुद्ध लिया है। दोनों में विरुद्ध (अलंकार) ही लिया है, विषापहार है न।

अन्वयार्थ :- शब्दरहित,.... प्रभु! आप में शब्द नहीं है। आत्मा में भी शब्द नहीं है। आत्मा में विकल्प नहीं है राग का, भक्ति का, अन्तर स्वरूप में, शब्द तो कहाँ से आया? शब्द आत्मा में है नहीं और भगवान में भी है नहीं। आप शब्दरहित हैं और रूप एवं गन्धरहित हैं और स्पर्शरहित हैं। **रसरहित होकर भी,....** ओहो! आप में स्पर्श, बिल्कुल स्पर्श नहीं है। नहीं है, उसको आप जाननेवाले हैं। क्या कहा, समझ में आया?

आप में शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, रूप नहीं है। परन्तु नहीं है, उसको आप जाननेवाले हो। उसी प्रकार भगवान आत्मा में शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं है। परन्तु नहीं होने पर भी उसको आत्मा जाननेवाला है। विरुद्ध, विरुद्ध अलंकार है न! समझ में आया? **उनके ज्ञान से सहित सबके जाननेवाले होकर भी....** दूसरा बोल। आप सबके जाननेवाले होकर भी **दूसरों के द्वारा नहीं जानने के योग्य....** आप सबको जानते हैं परन्तु विकल्प द्वारा, मन द्वारा, राग द्वारा, पर द्वारा आत्मा जानने में आवे, ऐसा आत्मा है नहीं। समझ में आया?

भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव सबको जानते हैं, परन्तु सब उनको जान नहीं सकते। उसी प्रकार भगवान आत्मा सबको जाननेवाला आत्मा है, परन्तु उसको विकल्प, राग, निमित्त और पुस्तक-पृष्ठ जान नहीं सकते। अपने निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान द्वारा ही आत्मा जाना जाता है। सेठी! भाई, ... भाई! समझ में आया यह? यह तो अध्यात्म की बात है, भाई! यहाँ तो। अध्यात्म की भक्ति अनन्त काल से इसने सुनी नहीं और इसे रुचि नहीं। बाहर में सब कर-करके मर गया। यह किया और यह किया और यह किया.... समझ में आया? कहीं दो-पाँच-पच्चीस लाख का मन्दिर बनावे तो इसे (ऐसा) हो जाता है कि अपने भव का नाश (हो गया)। धूल में भी नहीं, सुन न अब। समझ में आया? यह तो हमारे नानालालभाई को कहा था न तब? (संवत्) २००६ के वर्ष में। एक पण्डित आया था इन्दौर से। पण्डित आया था। ढाई लाख का मन्दिर। राजकोट में हुआ न, ढाई लाख का मन्दिर (संवत्) २००६ के वर्ष में। उसमें सवा लाख तो उनके परिवार का था। ओहो! सेठ! तुम्हारा तो आठ भव में मोक्ष हो जायेगा।

नानालालभाई ने कहा, महाराज हमको ऐसा नहीं कहते हैं। सवा लाख रुपये तो उसने डाले, ढाई लाख (का मन्दिर) और बड़ा महोत्सव था। पाँच-छह हजार लोग। स्वर्ण का ऊपर (कलश चढ़ाया)। महाराज ऐसा नहीं कहते हैं। महाराज तो कहते हैं, उसमें पुण्यबन्धन हो। समझे? नानालालभाई ने कहा। जन्म-मरण के रहित की बात तो आत्मा में पुण्य के विकल्प से पार की दृष्टि और ज्ञान (हो), वह जन्म-मरण के अन्त का कारण है। बाहर की चीज़ जन्म-मरण के अन्त का कारण नहीं है। भक्तिवन्त को भाव आवे, होवे, परन्तु उससे जन्म-मरण का अन्त हो जाये और सम्यग्दर्शन तथा मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाये, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। समझ में आया? बहुत गड़बड़ी लगती है उन त्यागी और पण्डित को। अर र र! यह सब ऐसा। परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। सुन न! पर के लक्ष्य से और राग के लक्ष्य से आत्मा का कल्याण हो, (ऐसा) तीन काल तीन लोक में नहीं है। निर्विकल्प स्वसंवेदन भगवान आत्मा है। राग से वेदा न जाये—अनुभव में न आवे। राग का आदर करे और चैतन्य का आदर हो जाये, ऐसा नहीं होता।

तो कहते हैं कि हे भगवान! आप **दूसरों के द्वारा नहीं जानने के योग्य तथा जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता....** उल्टी बात करते हैं, भाई! आपका स्मरण नहीं किया जाता, ऐसे तो भगवान आप निर्विकल्प अचिन्त्य हो। परन्तु उसका मैं स्मरण करता हूँ। आप किसी के स्मरण में न आ सके, ऐसा मैं आपका स्मरण करता हूँ। ऐसा कहा। विकल्प से स्मरण में नहीं आते, राग से नहीं आते परन्तु मैं स्वसंवेदनज्ञान द्वारा आपकी स्तुति करता हूँ। दुनिया से विरुद्ध बात भगवान आपकी है। समझ में आया? हे भगवान! आप बहुत ही.... वह आया न? नहीं।

भावार्थ :- हे भगवन्! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित हैं, अमूर्तिक हैं;.... फिर भी उन्हें जानते हैं, फिर भी उन्हें जानते हैं। है नहीं अपने में, उसको जानते हैं। **आप सबको जानते हैं, पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मन से भी कोई स्मरण नहीं कर सकता,....** कल्पना से **तथापि मैं अपने बाल-साहस से....** अपनी ज्ञान की पर्याय में जोर करके, रागरहित होकर मैं मेरे आत्मा की स्तुति और भक्ति करता हूँ, उसको स्मरण में लाता हूँ। राग से रहित भगवान सच्चिदानन्द

निर्मल, ज्ञानपुंज है, वह विकल्प से चिन्तवन में नहीं आता। परन्तु रागरहित मेरी सम्यक्दशा द्वारा आप मेरे स्मरण में आ जाते हैं। सेठी! भारी कठिन पड़े। बाल जीवों को बेचारों को कुछ.... ऐसे लोग बातें करे कि उसे—बाल जीवों को कुछ धर्म होता है, (ऐसा कहो)। परन्तु धर्म इस रास्ते से ही होता है। दूसरा कोई धर्म का (रास्ता नहीं है)। पहले थोड़ा-थोड़ा धर्म होगा, ऐसा तो बता दो? अरे... भगवान! थोड़ा हो तो थोड़ा में से बहुत होगा। परन्तु थोड़ा धर्म पर से होता नहीं। देह की क्रिया से नहीं, वाणी की क्रिया से नहीं, मन की क्रिया से नहीं और दया, दान, व्रत, भक्ति के राग से भी आत्मा की धर्म की क्रिया होती नहीं। तीन काल-तीन लोक में ऐसी चीज़ है। जिसको जँचे, वह माने; न जँचे वह स्वतन्त्र है। समझ में आया? बात तो ऐसी है। फिर एकान्त कहो, ऐसा मानते हैं, निमित्त को नहीं मानते हैं। सब है, सुन तो सही। निमित्त और व्यवहार गया, ज्ञान के ज्ञेय में। अपने स्वरूप में व्यवहार भी नहीं है और निमित्त भी नहीं है। ऐसी दृष्टि स्मरण करने में आती है, प्रभु! मेरा बाल-साहस है। अर्थात् पहला साहस है। प्रथम का मेरा साहस है। ज्ञान की पर्याय से आपको मैं प्राप्त हुआ हूँ। आपको मैं मिल गया हूँ आपके आत्मा में। राग से आप प्राप्त होते नहीं।

काव्य ३५

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं,
निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं,
पतिं जिनानां शरणं व्रजामि॥

लंघ्य न औरों के मन से भी, और गूढ़ गहरे अतिशय।
धनविहीन जो स्वयं किन्तु, जिनका करते धनवान विनय॥
जो इस जग के पार गये पर, पाया जाय न जिनका पार।
ऐसे जिनपति के चरणों की, लेता हूँ मैं शरण उदार॥

अन्वयार्थ—(अगाधम्) गम्भीर, (अन्यैः) दूसरों के द्वारा (मनसा अपि अलंघ्यम्) मन से भी उल्लंघन करने के अयोग्य अर्थात् अचिन्त्य, (निष्किंचनम्) निर्धन होने पर भी (अर्थवद्भिः) धनाढ्यों के द्वारा (प्रार्थितम्) याचित, (विश्वस्य पारम्) सबके पारस्वरूप होने पर भी (अदृष्टपारम्) जिनका पार या अन्त कोई नहीं देख सका है—ऐसे (तम् जिनानाम् पतिम्) उन जिनेन्द्रदेव की (शरणम्) शरण को (व्रजामि) प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ — हे भगवन्! आप बहुत ही गम्भीर और धैर्यवान हैं। आपका कोई मन से भी चिन्तवन नहीं कर सकता। यद्यपि आपके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है तो भी धनिक लोग (अथवा याचकवर्ग) आपसे याचना करते हैं; आप सबके पार को जानते हैं, पर आपके पार को कोई नहीं जान सकता और आप जगत् के जीवों के प्रतिरक्षक हैं — ऐसा सोचकर मैं भी आपकी शरण में आया हूँ।

काव्य - ३५ पर प्रवचन

---

३५ (श्लोक)।

अगाधमन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं,
निष्किंचनं प्रार्थितमर्थवद्भिः।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं,
पतिं जिनानां शरणं व्रजामि॥

लंघ्य न औरों के मन से भी, और गूढ़ गहरे अतिशय।
धनविहीन जो स्वयं किन्तु, जिनका करते धनवान विनय॥
जो इस जग के पार गये पर, पाया जाय न जिनका पार।
ऐसे जिनपति के चरणों की, लेता हूँ मैं शरण उदार॥

देखो! दोनों में परस्पर विरुद्ध कहते हैं।

अन्वयार्थ :- गम्भीर,.... हे जिनपति! है न संस्कृत में? **'जिनानां...'** हे नाथ! आप गणधर अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना करनेवाले, अन्तर्मुहूर्त में। और अन्तर्मुहूर्त

में चार ज्ञान की प्राप्ति (हुई है), ऐसे गणधर के प्रभु! आप स्वामी हो। उसके भी आप सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हो। और मेरा आत्मा भी अपनी निर्मल पर्यायरूपी जो भाव, उसका स्वामी मैं चैतन्य आनन्दकन्द सहजस्वभावी (हूँ)। मेरा ध्रुव स्वभाव, परमानन्दस्वभाव, वह मेरी पर्याय का मेरा स्वामी है।

वो गम्भीर, दूसरों के द्वारा मन से भी उल्लंघन करने के अयोग्य.... मन से भी अचिन्त्य हैं। और **निर्धन होने पर भी धनाढ्यों के द्वारा याचित,....** नाथ! आपके पास कुछ नहीं, हों! राग नहीं, विकल्प नहीं, लक्ष्मी नहीं, पुण्य नहीं, कुछ नहीं, फिर भी धनाढ्य आपकी प्रार्थना करते हैं। लक्ष्मीवाला आपकी प्रार्थना करता है। आप के पास जगत की लक्ष्मी नहीं। समझ में आया? ऐसी भगवान की स्तुति करते हुए अन्दर से हृदयोद्गार निकल गये हैं।

ओहो! आत्मा! तेरे पास कोई पुण्य-पाप है नहीं, फिर भी महा पुण्यवन्त प्राणी आपका आदर करते हैं। हे नाथ! आपके पास धन-लक्ष्मी कुछ है नहीं। समवसरण आदि हो तो उनके पास है? वह तो बाहर की चीज़ है। वे तो निरावलम्बी आत्मतत्त्व विराजमान है। आनन्दकन्द में विराजते हैं। ऐसे आत्मा के पास कोई विकल्प, राग, पुण्य, अन्दर में नहीं है। फिर भी धनाढ्य लक्ष्मीवाले इन्द्र आदि प्रभु! आपसे '**प्रारर्थितम्**' अर्थात् याचना करते हैं।

जिनका पार या अन्त कोई नहीं देख सका है.... प्रभु! आपका पार कोई देख सका नहीं। फिर भी **उन जिनेन्द्रदेव की शरण को प्राप्त होता हूँ**। आपका पार, अगाध समुद्र प्रभु आत्मा आपका पार नहीं ले सका। फिर भी मैं उसकी ही शरण लेता हूँ। मेरे शरण में अगाध परमात्मा तुम ही शरण में हो। वह कहते हैं न? अरहंता मंगलं नहीं आता? अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलपण्णत्तो धम्मो मंगलं। आता है न चार शरण में? वह तो व्यवहार से बात है। अरिहंता मंगलं। अपना आत्मा अरिहंता मंगलं है। राग और द्वेष को नाश करनेवाली ताकत अपनी आत्मा में है, वही अपना शरण और मांगलिक है। भगवान शरण देने को कोई आते नहीं। भगवान देने को आते हैं? मृत्यु के समय अरिहंत की शरण लो। क्या अरिहंत? बाहर का अरिहंत है? तेरा स्वभाव, विकाररूपी अरि को नाश करनेवाला भगवान आत्मा उसकी मुझे शरण हो।

मेरा स्वरूप निर्विकल्पोऽअहं शरणं पव्वज्जामि। आता है न? बौद्ध में कहीं आता है। बुद्धो शरणं पवज्जामि। उसका अर्थ क्या? वह बुद्ध नहीं। पूर्णानन्द प्राप्त आत्मा आनन्दकन्द बुद्धो शरणं पवज्जामि। अपना स्वभाव ज्ञानमय है, उसकी मैं शरण अंगीकार करता हूँ। दूसरे की शरण मेरे है नहीं।

भावार्थ :- हे भगवन्! आप बहुत ही गम्भीर.... बहुत गम्भीर अगाध। **धैर्यवान हैं। आपका कोई मन से भी चिन्तवन नहीं कर सकता। यद्यपि आपके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है तो भी धनिक लोग (अथवा याचकवर्ग) आपसे याचना करते हैं;....** प्रभु! कुछ बोलिये, कुछ कहो, कुछ दीजिए। **आप सबके पार को जानते हैं, पर आपके पार को कोई नहीं जान सकता....** अनन्त ज्ञान अमर्यादित को और अपना द्रव्य का स्वभाव किसी भी तरह से पर्याय में पूर्ण प्रगट होता नहीं। द्रव्यस्वभाव आ जाये तो पर्याय एक समय की होती है। समझ में आया?

और आप जगत् के जीवों के प्रतिरक्षक हैं—ऐसा सोचकर मैं भी.... रक्षक तो निमित्त से कहते हैं, हों! अपना आत्मा अपनी निर्मल पर्याय का रक्षक है। तीन लोक का नाथ तो निमित्त के तौर पर रक्षक कहने में आते हैं। अपना द्रव्यस्वभाव सच्चिदानन्द पूर्ण आत्मा निर्विकल्पो अहं, ऐसा अपना स्वभाव अपनी निर्मल पर्याय का रक्षक है, दूसरा वास्तव में कोई रक्षक है नहीं।

काव्य ३६

त्रैलोक्यदीक्षागुरवे नमस्ते,
यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः,
पश्चान्न मेरुः कुलर्वतोऽभूत्॥

मेरु बड़ा-सा पत्थर पहले, फिर छोटा-सा शैलस्वरूप।
और अन्त में हुआ न कुलगिरि, किन्तु सदा से उन्नतरूप॥

इसी तरह जो वर्धमान है, किन्तु न क्रम से हुआ उदार।
सहजोन्नत उस त्रिभुवन गुरु को, नमस्कार है बारम्बार॥

अन्वयार्थ — (त्रैलोक्यदीक्षागुरवे ते नमः) त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरुस्वरूप आपको नमस्कार हो, (यः) जो आप (वर्धमानः अपि) क्रम से उन्नति को प्राप्त होकर भी (निजोन्नतः) स्वयमेव उन्नत (अभूत्) थे। (मेरुः) मेरुपर्वत (प्राक्) पहले (गण्डशैलः) गोल पत्थरों का ढेर, (पुनः) फिर (अद्रिकल्पः) पहाड़ और (पश्चात्) फिर (कुलपर्वतः) कुलाचल (न अभूत्) नहीं हुआ था किन्तु स्वभाव से ही वैसा विशाल था।

भावार्थ — हे प्रभो! आप तीन लोक के जीवों के दीक्षागुरु हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। इस श्लोक के द्वितीय पद में विरोधाभास अलङ्कार है। वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं, अर्थात् क्रम से बढ़ रहे हैं; फिर भी निजोन्नत अर्थात् अपने आप पहले से ही उन्नत थे।

जो चीज बढ़ रही है, वह पहिले उससे छोटी ही होती हैं, न कि बड़ी, पर यहाँ विपरीत बात है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि आप वर्धमान होकर भी स्वयमेव उन्नत थे; न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुए थे क्योंकि मेरुपर्वत आज जितना उन्नत है, उतना उन्नत हमेशा से ही था, न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुआ है। यहाँ वर्धमानपद श्लिष्ट है।

काव्य - ३६ पर प्रवचन

३६ (श्लोक)।

त्रैलोक्यदीक्षागुरवे नमस्ते,
यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रिकल्पः,
पश्चान्न मेरुः कुलर्वतोऽभूत्॥

मेरु बड़ा-सा पत्थर पहले, फिर छोटा-सा शैलस्वरूप।
और अन्त में हुआ न कुलगिरि, किन्तु सदा से उन्नतरूप॥
इसी तरह जो वर्धमान है, किन्तु न क्रम से हुआ उदार।
सहजोन्नत उस त्रिभुवन गुरु को, नमस्कार है बारम्बार॥

अन्वयार्थ :- हे **त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरु....** त्रिभुवन के जीवों के दीक्षागुरु परमात्मा व्यवहार से। और अपनी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की दीक्षा का गुरु द्रव्यस्वभाव। समझ में आया? **आपको नमस्कार हो, जो आप क्रम से उन्नति को प्राप्त होकर भी स्वयमेव उन्नत थे।** वास्तव में तो केवलज्ञान क्रम से नहीं होता, ऐसा कहना है। पहले भले थोड़ा-थोड़ा.... केवलज्ञान तो एक समय में एकदम होता है। एक समय में परमात्मदशा। थोड़ा केवल पहले हुआ, फिर थोड़ा हुआ, ऐसा होता नहीं। एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त चतुष्टय चमकारा। अन्दर द्रव्यस्वभाव में जहाँ एकाकार हुआ तो एक ही समय में पूर्ण होता है। मेरु का दृष्टान्त देते हैं। **स्वयमेव उन्नत थे।**

मेरुपर्वत पहले गोल पत्थरों का ढेर, फिर पहाड़ और फिर कुलाचल नहीं हुआ था.... मेरुपर्वत तो ऐसा का ऐसा अनादि से उन्नत है। पहले छोटा था, फिर बड़ा हुआ, ऐसा मेरु में नहीं है। मेरुपर्वत लाख योजन का है न। पहले छोटा था, बाद में बड़ा हुआ है? ऐसा का ऐसा है। ऐसे हे नाथ! आपके केवलज्ञान और दर्शन जब प्रगट हुआ, ऐसा का ऐसा है। पहले थोड़ा हुआ, बाद में थोड़ा हुआ, ऐसा है नहीं। उसी प्रकार आत्मद्रव्य में पहले द्रव्य थोड़ी शक्तिवाला था और फिर बहुत शक्तिवाला हुआ, ऐसा आत्मद्रव्य में है नहीं। अनादि-अनन्त आत्मद्रव्य उन्नत ही है। मेरुपर्वत में उन्नतता अनादि से है, ऐसे चैतन्यद्रव्य की उन्नतता उसकी प्रकृति का स्वभाव अनादि से उन्नत है। ऐसे भगवान का मैं आदर और भक्ति करता हूँ।

भावार्थ :- हे प्रभो! आप तीन लोक के जीवों के दीक्षागुरु हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। इस श्लोक के द्वितीय पद में विरोधाभास अलंकार है। वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं, अर्थात् क्रम से बढ़ रहे हैं; फिर भी निजोन्नत अर्थात् अपने आप पहले से ही उन्नत थे। अपने आप से पूर्ण दशा प्राप्त हुई।

जो चीज बढ़ रही है, वह पहिले उससे छोटी ही होती हैं, न कि बड़ी, पर यहाँ

विपरीत बात है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि आप वर्धमान होकर भी स्वयमेव उन्नत थे;.... बढ़ तो गये केवलज्ञान में। अर्थकार ने जरा दूसरा लिया है। ऋषभदेव की स्तुति चलती है न? इसलिए अन्त में यहाँ भगवान महावीर को लिया। इसलिए चौबीस (तीर्थंकर की) स्तुति बीच में पूरी हो जाती है। इस कारण यह वर्धमान लिये हैं। याद किये है। समझ में आया?

आप वर्धमान होकर भी स्वयमेव उन्नत थे;.... उन्नत हैं, स्वयमेव उन्नत हैं। पूर्णानन्द हैं। **न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुए थे....** क्या कहा? आपके अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए हैं, वे क्रम-क्रम से प्रगट नहीं हुए। एकदम उछलकर सर्वज्ञ का ज्वार आपको आ गया है। उसी प्रकार मेरा आत्मा भी, अनादि से उन्नत ही है। वस्तु स्वभाव ऐसा ही पड़ा है। मेरी पर्याय में फेरफार हो, वह तो एक समय की दशा है। वस्तु जो त्रिकाल है, जिसकी शरण मुझे है, वह शरण तो अनादि से उन्नत ही है। उसमें कभी हीनाधिक होता नहीं। समझ में आया? **मेरुपर्वत आज जितना उन्नत है, उतना उन्नत हमेशा से ही था, न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुआ है। यहाँ वर्धमानपद श्लिष्ट है।** उसके साथ मिलाया है।

काव्य ३७

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा,
न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्।
न लाघवं गौरवमेकरूपं,
वन्दे विभुं कालकलामतीतम्॥

स्वयं प्रकाशमान जिस प्रभु को, रात-दिवस नहि रोक सका।
लाघव-गौरव भी नहिं जिसको, बाधक होकर टोक सका॥
एकरूप जो रहे निरन्तर, काल-कला से सदा अतीत।
भक्ति-भार से झुककर उसकी, करूँ वन्दना परम पुनीत॥

अन्वयार्थ — (स्वयं प्रकाशस्य यस्य) स्वयं प्रकाशमान रहनेवाले जिसके (दिवा निशा वा) दिन और रात की तरह (न बाध्यता, न बाधकत्वम्) न बाध्यता है और न बाधकपना भी। इसी प्रकार जिनके (न लाघवं गौरवम्) न लाघव है, न गौरव भी; उन (एकरूपम्) एकरूप रहनेवाले और (कालकलाम् अतीतम्) काल-कला से रहित अर्थात् अन्तरहित (विभुम् वन्दे) परमेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

भावार्थ — स्वयं प्रकाशमान पदार्थ के पास रात और दिन का व्यवहार नहीं होता। प्रकाश के अभाव को रात कहते हैं और रात के अभाव को दिन कहते हैं। जो हमेशा प्रकाशमान रहता है, उसके पास अन्धकार न होने से रात का व्यवहार नहीं होता और जब रात का व्यवहार नहीं है, तब उसके अभाव में होनेवाले दिन का व्यवहार भी नहीं होता; उसी प्रकार आपमें भी बाध्यता और बाधक का व्यवहार नहीं है।

आप किसी को बाधा नहीं पहुँचाते, इसलिए आपमें बाधकत्व नहीं है और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुँचा सकता, इसलिए आप बाध्य नहीं हैं। जिसमें बाध्य का व्यवहार नहीं, उसमें बाधक का भी व्यवहार नहीं होता और जिसमें बाधक का व्यवहार नहीं, उसमें बाध्य का व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं। उसी प्रकार आपमें न लाघवत्व ही है और न गुरुत्व ही। आप इन दोनों सापेक्ष धर्मों से रहित हैं। आप अगुरुलघुरूप हैं। हे भगवन्! आप समय की मर्यादा से भी रहित हैं अर्थात् अनन्त काल तक ऐसे ही रहनेवाले हैं।

काव्य - ३७ पर प्रवचन

३७ (श्लोक)।

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा,
न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्।
न लाघवं गौरवमेकरूपं,
वन्दे विभुं कालकलामतीतम्॥

स्वयं प्रकाशमान जिस प्रभु को, रात-दिवस नहि रोक सका।
लाघव-गौरव भी नहिं जिसको, बाधक होकर टोक सका॥
एकरूप जो रहे निरन्तर, काल-कला से सदा अतीत।
भक्ति-भार से झुककर उसकी, करूँ वन्दना परम पुनीत॥

अन्वयार्थ :- स्वयं प्रकाशमान रहनेवाले जिसके.... प्रभु! आप तो स्वयं प्रकाशमान हो। जिसको स्वयं प्रकाश है, उसको **दिन और रात की तरह न बाध्यता है....** विघ्न करनेवाला कोई रहता नहीं और पर से उसमें विघ्न होता नहीं। **न बाधकपना भी। इसी प्रकार जिनके न लाघव है, न गौरव भी;....** प्रभु! आप न लघु हो, न आप गुरु हो। आप तो अगुरुलघु स्वभाव (हो)। जैसा आत्मा का द्रव्यस्वभाव है, ऐसा पर्याय में अगुरुलघुस्वभाव आपको प्रगट हुआ है। मेरा आत्मा भी अनादि-अनन्त अगुरुलघु है। मेरे आत्मा में भी लघु और गुरु वस्तु स्वभाव में है नहीं। समझ में आया? शोभालालभाई! आत्मा... आत्मा। भगवान आत्मा नहीं लघु निगोद की पर्याय जैसा, नहीं गुरु सिद्ध की पर्याय जैसा। वह तो त्रिकाल चैतन्यकन्द ध्रुव द्रव्यस्वभाव तो ऐसा का ऐसा है। एक ही रूप है। उसमें दो रूप लघु या छोटा या बड़ा, ऐसा है नहीं।

एकरूप रहनेवाले और काल-कला से रहित अर्थात् अन्तरहित.... आपकी पर्याय प्रगट हुई। अब कोई काल लागू पड़े या मर्यादा आ जाये, (ऐसा नहीं है)। प्रगट हुई सो हुई, अनन्त काल ऐसी की ऐसी रहेगी। हे नाथ! आपको अनन्त चतुष्टय भगवन्त दशा प्रगट हुई, काल से अतीत है। अब काल की मर्यादा उसको लागू पड़ती नहीं। अनादि से तो अज्ञान था। जहाँ भान हुआ, उसके काल का अन्त ही नहीं है। सादि अनन्त... सादि अनन्त... जब से अनन्त ज्ञान प्रगट हुआ... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त काल रहेगा। वह कालातीत, काल-कला से अतीत है। समझ में आया?

इसी प्रकार द्रव्यस्वभाव अनादि-अनन्त काल-कला से पार है। उसको काल लागू नहीं पड़ता कि अनादि-सान्त पर्याय थी, सादि-सान्त साधकभाव था और सादि-अनन्त सिद्धभाव हुआ, ऐसे तीन प्रकार अपने स्वभाव में गुरु-लघुपना लागू पड़ता नहीं। लागू पड़ता नहीं, क्या कहते हैं? लागू हिन्दी भाषा है? ठीक।

भावार्थ :- स्वयं प्रकाशमान पदार्थ के पास रात और दिन का व्यवहार नहीं होता। प्रकाश के अभाव को रात कहते हैं और रात के अभाव को दिन कहते हैं। जो हमेशा प्रकाशमान रहता है, उसके पास अन्धकार न होने से रात का व्यवहार नहीं होता और जब रात का व्यवहार नहीं है, तब उसके अभाव में होनेवाले दिन का व्यवहार भी नहीं होता; उसी प्रकार आपमें भी बाध्यता और बाधक.... आप दूसरों को विघ्न करनेवाले, बाध्यता अर्थात् दूसरा आपको विघ्न करे, ऐसा व्यवहार नहीं है। आप तो ज्ञाता-दृष्टा पूर्णानन्द प्रभु किसी को विघ्न करनेवाले नहीं हो और किसी से विघ्न तेरे में हो, ऐसे आप नहीं हो। समझ में आया?

उसी प्रकार अपना द्रव्यस्वभाव किसी को बाधक नहीं है और उसमें कोई बाधा डाल दे अपने त्रिकाल स्वभाव में, ऐसी चीज़ है नहीं। समझ में आया? यह तो निरंजन परमात्मा की स्तुति चलती है। बाहर से भले भगवान के पास स्तुति की है, परमार्थ तो वह भक्ति है। लोगों को लगे कि मानों भगवान कुछ दे देंगे। तेरा आत्मा कहीं भगवान के पास है? तेरा आत्मा भगवान के पास है कि तुझे दे दे? तेरा तेरे पास पड़ा है। उसका उसके पास है। कुछ लेने-देने का व्यवहार है नहीं। व्यवहार काट दिया भगवान ने। हमारे साथ लेने-देने का व्यवहार है नहीं।

आप किसी को बाधा नहीं पहुँचाते, इसलिए आपमें बाधकत्व नहीं है और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुँचा सकता, इसलिए आप बाध्य नहीं हैं। जिसमें बाध्य का व्यवहार नहीं, उसमें बाधक का भी व्यवहार नहीं होता और जिसमें बाधक का व्यवहार नहीं, उसमें बाध्य का व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं। उसी प्रकार आपमें न लाघवत्व ही है और न गुरुत्व ही। हे परमात्मा! आपकी पर्याय तो निर्मलानन्द पूर्ण होकर अनन्त काल रहेगी। गुरु-लघुपना आपमें लागू पड़ेगा नहीं। मेरे द्रव्यस्वभाव में भी लघु-गुरु नहीं है। **आप इन दोनों सापेक्ष धर्मों से रहित हैं। आप अगुरुलघुरूप हैं।**

हे भगवन्! आप समय की मर्यादा से भी रहित हैं.... आत्मद्रव्य भी समय-समय की त्रिकाल वस्तु है। उसमें समय लागू पड़ता नहीं। भगवान के आनन्द की प्राप्ति में समय लागू नहीं पड़ता। **अनन्त काल तक ऐसे ही रहनेवाले हैं।**

काव्य ३८

इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्यात्-
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्
कश्छायया याचितयात्मलाभः॥

इस प्रकार गुण-कीर्तन करके, दीन भाव से हे भगवान।
वर न माँगता हूँ मैं कुछ भी, तुम्हें वीतरागी वर जान॥
वृक्षतले जो जाता है, उस पर छाया होती स्वयमेव।
छाँह याचना करने से फिर, लाभ कौनसा हे जिनदेव॥

अन्वयार्थ — (देव) हे देव! (इति स्तुतिम् विधाय) इस प्रकार स्तुति करके मैं (दैन्यात्) दीनभाव से (वरम् न याचे) वरदान नहीं माँगता क्योंकि (त्वम् उपेक्षकः असि) आप उपेक्षक हैं, राग-द्वेष से रहित हैं। अथवा (तरुम् संश्रयतः) वृक्ष का आश्रय करनेवाले पुरुष को (छाया स्वतः स्यात्) छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; अतः (याचितया छायया कः आत्मलाभः) छाया की याचना से क्या लाभ है?

भावार्थ — हे भगवन्! मैं सर्प से डसे हुए मृतप्रायः लड़के को आपके सामने लाया हूँ, इसलिए स्तुति कर चुकने के बाद मैं आपसे यह वरदान नहीं माँगता कि आप मेरे लड़के को स्वस्थ कर दें क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप राग-द्वेष से रहित हैं; इसलिए न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ लेते या छीनते ही हैं। स्तुति करनेवाले को तो फल की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जैसे, जो मनुष्य, वृक्ष के नीचे पहुँचेगा, उसे छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; छाया की याचना करने से कोई लाभ नहीं होता।

काव्य - ३८ पर प्रवचन

३८।

इति स्तुतिं देव! विधाय दैन्यात्-
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्
कश्छायया याचितयात्मलाभः॥

इस प्रकार गुण-कीर्तन करके, दीन भाव से हे भगवान।
वर न माँगता हूँ मैं कुछ भी, तुम्हें वीतरागी वर जान॥
वृक्षतले जो जाता है, उस पर छाया होती स्वयमेव।
छाँह याचना करने से फिर, लाभ कौनसा हे जिनदेव॥

मुमुक्षु : छाया मिल जाती है तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : छाया मिल जाती है, फिर... कहाँ? वह तो जाये वहाँ वृक्ष का घन वन है। वन घन। जिसमें वन का घन, समूह पड़ा है, वहाँ छाया है। माँगनी कहाँ है कि तू छाया देना।

इसी प्रकार अपने आत्मा में आनन्दस्वरूप है, ज्ञान से भरा (हुआ) उसकी दृष्टि करी तो आत्मा में छाया पड़ ही गयी। माँगना पड़ता नहीं, विकल्प करना पड़ता नहीं कि हे भगवान! मुझे प्राप्त हो, प्राप्त हो। वह तो अपने स्वभाव की दृष्टि हुई तो पर्याय में छाया आ गयी। द्रव्य का स्वभाव पर्याय में आंशिक प्रगट हो गया। ऐसे हे भगवन्!

अन्वयार्थ :- हे देव! इस प्रकार स्तुति करके मैं दीनभाव से वरदान नहीं माँगता.... वरदान—अभिलाषित फल। मुझे वर नहीं माँगना है, कोई दान नहीं माँगना है कि मुझे तुम दो। **क्योंकि आप उपेक्षक हैं,...** आप तो **राग-द्वेष से रहित हैं**। वीतराग हो। **अथवा वृक्ष का आश्रय करनेवाले पुरुष को छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; अतः छाया की याचना से क्या लाभ है?** मिलने के बाद छाया की याचना से क्या लाभ? ऐसे भगवान आत्मा पूर्णानन्द के समीप में जहाँ दृष्टि पड़ी, (फिर) माँगने की कोई जरूरत

नहीं। समझ में आया? जो अपने आत्मा से भिन्न था, दूर था, राग, पुण्य, निमित्त की क्रिया में अपना लाभ मान रखा था, तब तो दूर था। पर अपना चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा आनन्दकन्द उसके समीप आया, माँगने की कोई आवश्यकता नहीं। चैतन्यप्रभु शक्ति में से व्यक्तता पर्याय में प्रगट हुए बिना रहती नहीं। माँगने की कोई इच्छा करने की जरूरत नहीं है। ग्रन्थकार थोड़ा कहते हैं।

भावार्थ :- हे भगवन्! मैं सर्प से डसे हुए मृतप्राय: लड़के को आपके सामने लाया हूँ,.... सर्प ने डसा था न। बेहोश हो गया था। **इसलिए स्तुति कर चुकने के बाद मैं आपसे यह वरदान नहीं माँगता कि आप मेरे लड़के को स्वस्थ कर दें....** मेरी इच्छा नहीं है। समझ में आया? मैं तो आत्मा की स्तुति करता हूँ और आपकी स्तुति करता हूँ। जो होना होगा, वह होगा। मुझे कोई वरदान माँगना नहीं है। क्यों? **क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप तो राग-द्वेष से रहित हैं; इसलिए न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ लेते या छीनते ही हैं।** 'शिवपद अमने देजो, देजो रे महाराज' भगवान के पास माँगता है न? हे भगवान! हमें मोक्षपद देना। तेरा मोक्षपद वहाँ कहाँ है? मोक्षपद तो तेरे में पड़ा है। अन्दर शक्ति—स्वभाव तो तेरा मोक्ष ही है। स्वयं भगवान आत्मा मोक्षस्वरूप द्रव्यस्वभाव है। अपनी पर्याय जहाँ द्रव्यस्वभाव के साथ मिला दी, माँगने की जरूरत नहीं है। उस पर्याय में निर्मलता प्रगट होती... होती... होती है। कोई विकल्प करने से या ऐसी क्रिया करने से प्राप्त होती है, ऐसी कोई चीज़ है नहीं। समझ में आया?

न किसी से कुछ लेते या छीनते ही हैं। स्तुति करनेवाले को तो फल की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जैसे, जो मनुष्य, वृक्ष के नीचे पहुँचेगा, उसे छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है; छाया की याचना करने से कोई लाभ नहीं होता। यह आज ही पूरा कर देना है न। आठ दिन का विषापहार था। कल दोपहर को और अलग चलेगा। कल दोपहर को तो आलोचना है न? दोपहर को पद्मनन्दि (पंचविंशति) चलेगी। एक दिन, हाँ! परसों से कुछ विचारकर करेंगे। मोक्षमार्ग (प्रकाशक)। ३९ बोलो।

काव्य ३९

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधः-
त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।
करिष्यते देव! तथा कृपां मे,
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः॥

यदि देने की इच्छा ही हो, या इसका कुछ आग्रह हो।
तो निज चरण-कमल-रत निर्मल, बुद्धि दीजिये नाथ अहो॥
अथवा कृपा करोगे ही प्रभु, शङ्का इसमें जरा नहीं।
अपने प्रिय सेवक पर करते, कौन सुधीजन दया नहीं॥

अन्वयार्थ — (अथ दित्सा अस्ति) यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है (यदि वा) अथवा वरदान माँगो, ऐसा (उपरोधः अस्ति) आग्रह है तो (त्वयि एवं सक्ताम्) आपमें लीन (भक्तिबुद्धिम्) भक्तिमयी बुद्धि (दिश) प्रदान करो। मेरा विश्वास है कि (देव) हे देव! आप (मे) मुझ पर (तथा) वैसी (कृपाम् करिष्यते) दया करेंगे। (आत्मपोष्ये) अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर (को वारि सूरिः) कौन पण्डित पुरुष (सुमुखो न भवति) अनुकूल नहीं होता ? अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ — हे नाथ! यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है तो मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मेरी भक्ति आप में ही रहे।

मेरा विश्वास है कि आप मुझ पर अपनी कृपा अवश्य करेंगे क्योंकि विद्वान् पुरुष अपने आश्रित रहनेवाले शिष्य की इच्छाओं को पूर्ण ही करते हैं।

काव्य - ३९ पर प्रवचन

---

३९ (श्लोक)।

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधः-
त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।

करिष्यते देव! तथा कृपां मे,
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥

यदि देने की इच्छा ही हो, या इसका कुछ आग्रह हो।
तो निज चरण-कमल-रत निर्मल, बुद्धि दीजिये नाथ अहो॥
अथवा कृपा करोगे ही प्रभु, शङ्का इसमें जरा नहीं।
अपने प्रिय सेवक पर करते, कौन सुधीजन दया नहीं॥

भगवान को तो क्या इच्छा है ? परन्तु स्वयं अपने स्वभाव की माँग करते हैं अन्दर में। आत्मद्रव्य आप तो कृपा करोगे ही। मेरी दृष्टि लगा दी आत्मद्रव्य में, कृपा किये बिना नहीं रहता। मैं निःशंक हूँ कि आप कृपा करनेवाले आत्मद्रव्य हो। समझ में आया ?

मुमुक्षु : पक्का बनिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिया पक्का है, आत्मव्यापारी। क्या कहते हैं, देखो!

हे प्रभो! आग्रह और अनुरोध आपका हो। अनुरोध। आप में लीन भक्तिमय भगवान शिवपद दो, बस! मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। मैं दूसरा कोई वरदान नहीं माँगता। प्रभु! मैं तो मेरे स्वरूप में लीन होऊँ, यही मेरी प्रार्थना है। आपकी भक्ति अर्थात् स्वरूप की भक्ति में लीन होऊँ, यही मेरी प्रार्थना है। दूसरा कोई वर मुझे नहीं माँगना है कि अमुक चीज़ दो कि मनुष्यपना मिले, स्वर्ग मिले फिर भगवान के पास जायें, वहाँ भगवान के पास धर्म मिलेगा, वह सब बात झूठी है। समझ में आया ? मैं कुछ नहीं माँगता हूँ। प्रभु! आपकी अनुरोधता हो, मेरी भावना में आपका अनुरोध है, ऐसा मैं उपचार से कहता हूँ। आपका अनुरोध हो, ऐसा मेरी भावना में आता है। आपको तो अनुरोध है नहीं, आपको इच्छा है नहीं। तो प्रभु! मेरी स्वरूप में लीनता हो जाओ, यह मैं आपसे माँगता हूँ। दूसरा कुछ मैं नहीं माँगता। समझ में आया ?

मेरा विश्वास है.... मेरा विश्वास है। **हे देव!** देखो! अन्तिम श्लोक है। **आप मुझ पर वैसी दया करेंगे।** आपके केवलज्ञान में भी मेरी परिणति निर्मल हो गयी है, होनेवाली है और केवलज्ञान मुझे प्राप्त होगा, वह आपके केवलज्ञान में आ गया है। आपके केवलज्ञान में आ गया है और मेरे ज्ञान में भी आ गया है। मेरे द्रव्यस्वभाव में पड़ा हूँ

आदर करके, तो मेरा विश्वास है। श्रीमद् में नहीं आता? 'जो पद सर्वज्ञे....' आता है न? क्या है वह?

यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,
यही परमपद पाने को धर ध्यान जब,
शक्तिविहीन अवस्था मनोरथरूप जब,
तो भी निश्चय राजचंद्र के मन रहा,
प्रभु आज्ञा से होऊँ वही स्वरूप जब,
अपूर्व अवसर ऐसा किसदिन आयेगा?

एक श्रीमद् राजचन्द्र हुए हैं। राजचन्द कवि कहलाते हैं न? ३३ वर्ष में देह छूट गयी। २९-३० वर्ष में ऐसे यह २१ श्लोक बनाये थे। उसमें ऐसा आया कि हे नाथ! 'यही परमपद प्राप्ति का किया ध्यान में' परन्तु वर्तमान में 'शक्तिविहीन मनोरथरूप जो' मेरे आत्मा की दृष्टि मुझे हुई है और मुझे विश्वास निःशंकता है 'प्रभु आज्ञा से होऊँ वही केवलज्ञानस्वरूप जो...' अपने आत्मा का भरोसा अन्दर में आया, मैं सम्यक् प्राप्त हुआ, मैं अल्प काल में केवलज्ञानी होऊँगा। मुझे शंका है ही नहीं। शंका नहीं है मुझे कि कब होगा और क्या होगा? ऐसा सम्यग्दृष्टि अपनी भक्ति आत्मा में करता है तो आत्मा में से ऐसी भणकार आता है। शोभालालभाई! समझ में आया यह? अरे रे! क्या हो? कहाँ जाना? पामर है? प्रभु की भक्ति तुझे आती नहीं।

प्रभु आत्मा सच्चिदानन्द भगवान निर्विकल्प आनन्द 'उदासीनो अहं, परमानंदो अहं' उसकी जिसको दृष्टि और विश्वास है, अल्प काल में परमात्मा हो जाऊँगा। मेरी परमात्मा की पर्याय प्राप्ति में कोई विघ्न डालनेवाला है नहीं। समझ में आया? क्या होगा? नहीं, मुझे विश्वास है। क्यों? **मुझ पर वैसी दया करेंगे। अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर कौन पण्डित पुरुष अनुकूल नहीं होता?** अपने शिष्य का पोषण करने में उसका कौन गुरु हो कि पोषण न करे? ऐसे अपनी पर्याय शिष्य है और अपना द्रव्य है, वह गुरु है। अपनी निर्मल पर्याय जो सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान हुआ, वह शिष्य है। गुरु त्रिकाल द्रव्य है। ऐसा कौन गुरु है कि अपनी पर्याय में पोषण न दे? परिपूर्ण

पोषण देनेवाला है, मुझे विश्वास हो गया है। आप ही द्रव्य में से परिपूर्ण मैं प्राप्त करूँगा, उसमें शंका-फंका है नहीं। देखो! यह भक्ति। ऐसे अकेली भक्ति करे और समझे नहीं कुछ। समझ में आया? इसे भक्ति कहते नहीं।

भावार्थ :- हे नाथ! यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है तो मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मेरी भक्ति आप में ही रहे। मेरा विश्वास है.... कि मेरी भक्ति जो आत्मद्रव्य पर पड़ी है, उस भक्ति में कभी विघ्न नहीं होगा। स्वरूप की दृष्टि मेरी अप्रतिहत हुई है। वह पीछे हटे, ऐसा मेरे में है नहीं। परमात्मा अल्प काल में होऊँगा, ऐसा मेरा विश्वास है। देखो! यह सम्यग्दृष्टि की धर्म की भक्ति का विश्वास। वह कहे, हे भगवान! क्या होगा? कहाँ जाऊँगा? कितने जन्म-मरण? मूर्ख है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गयी उसे आत्मा में से। समझ में आया? पुण्य और पाप के राग रहित भगवान आत्मा, उसकी अन्तर रुचि, दृष्टि परिणति हुई, आज्ञा हो गयी कि अल्प काल में मैं परमात्मा हो जायेगा। मेरा विश्वास है, ऐसा कहते हैं देखो!

क्योंकि विद्वान् पुरुष अपने आश्रित रहनेवाले शिष्य की इच्छाओं को पूर्ण ही करते हैं। आप अवश्य कृपा करेंगे और अवश्य मेरे आत्मद्रव्य में से पूर्ण पर्याय प्राप्त होगी, मेरा विश्वास है। अन्तिम ४०वाँ।

काव्य ४०

वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन,
विनताय मनीषितानी भक्तिः।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति,
सुखानि यशो धनञ्जयं च॥

यथाशक्ति थोड़ी-सी भी, की हुई भक्ति श्री जिनवर की।
भक्तजनों को मन चाही, सामग्री देती जगभर की॥

इससे गुँथी गई स्तवन में, यह विशेषता से रुचिकर।
'प्रेमी' देगी सोख्य सुयश को, तथा धनञ्जय को शुचितर॥

अन्वयार्थ — (जिन) हे जिनेन्द्र! (यथाकथञ्चित्) जिस किसी तरह थोड़ी भी (विहिता) की गयी (भक्तिः) भक्ति (विनताय) नम्र मनुष्य के लिए (मनीषितानि) इच्छित वस्तुएँ (वितरित) देती है, (पुनः) फिर (त्वयि) आपके विषय में की गई (नुतिविषया) स्तुतिविषयक भक्ति (विशेषात्) विशेषरूप से (सुखानि) सुख, (यशः) कीर्ति, (धनम्) धन-सम्पत्ति (च) और (जयम्) जीत को (दिशति) देती है।

भावार्थ — हे भगवन्! आपकी भक्ति से सुख, यश, धन तथा विजय आदि की प्राप्ति होती है।

काव्य - ४० पर प्रवचन

अन्तिम ४०वाँ।

वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन,
विनताय मनीषितानी भक्तिः।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद्दिशति,
सुखानि यशो धनञ्जयं च॥

पवित्रता और .... साथ ही ऐसा कहते हैं। प्रार्थनादि किस प्रकार की की है, देखा!

यथाशक्ति थोड़ी-सी भी, की हुई भक्ति श्री जिनवर की।
भक्तजनों को मन चाही, सामग्री देती जगभर की॥
इससे गुँथी गई स्तवन में, यह विशेषता से रुचिकर।
'प्रेमी' देगी सोख्य सुयश को, तथा धनञ्जय को शुचितर॥

अन्वयार्थ :- हे जिनेन्द्र! जिस किसी तरह थोड़ी भी की गयी भक्ति.... सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र किसी भी प्रकार से (करे ले) **भक्ति नम्र मनुष्य के लिए....** विनयवन्त के लिये **इच्छित वस्तुएँ देती है, फिर आपके विषय में की गई स्तुतिविषयक भक्ति....**

अन्तर के स्वभाव की भक्ति। आपका लक्ष्य लिया कि आप सिद्ध हुए हैं और मैं भी सिद्ध होनेवाला हूँ, ऐसा मेरा द्रव्यस्वभाव का अनुभव हुआ तो कहते हैं कि **स्तुतिविषयक भक्ति विशेषरूप से सुख,....** वह सुख आत्मा का और बाह्य पुण्य। धर्मी को पुण्य ऐसा हो जाता है कि जिसमें सौ कलशी अनाज हो, कलशी कहते हैं ? क्या कहते हैं तुम्हारी हिन्दी में ? सौ खाण्डी– खाण्डी। सौ खाण्डी अनाज हो तो उसमें सौ गाड़ी घास होती है। घास, घास होती है न ? कुलचा बोलते हैं। सौ खाण्डी घास हो और कुलचा कमजोर हो, ऐसा नहीं होता।

इसी तरह भगवान! आपकी भक्ति की श्रद्धा और दृढ़ता में मैं पड़ा हूँ और थोड़ा राग रह गया है, वह तो कुचा। उसमें से तीर्थंकर मैं होऊँगा और इन्द्र मैं होऊँगा, ऐसा कहते हैं। नवनीतभाई! और मेरी पवित्रता तो मेरे अन्तर के आश्रय से प्रगट होगी। मेरी पवित्रता भी पूर्ण और मेरा पुण्य भी पूर्ण। प्रभु! आपकी भक्ति में क्या कमी होगी ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

हे जिनेन्द्र! आपकी की गयी भक्ति इच्छित वस्तुएँ (देती है), **फिर आपके विषय में की गई स्तुतिविषयक भक्ति विशेषरूप से सुख, कीर्ति,....** ओहोहो! **धन-सम्पत्ति और जीत को देती है।** भाई! अन्तिम जीत शब्द है। मांगलिक है। हमारा हमारी जीत का नगाड़ा बजा। अन्तिम जय मंगल में जीत शब्द प्रयोग किया है। देखो! **जीत को देती है।** हे भगवान! आपकी भक्ति से सुख, यश, धन और विजय। हमें विजय की प्राप्ति होती है, वह आपकी भक्ति का फल निमित्त से है। अपने स्वरूप की भक्ति उपादान से है। अन्तर की परिणति शुद्ध होगी और बाहर में पुण्य का गंज मेरे में होगा कि आपके पास समवसरण है, ऐसा समवसरण मेरा होगा। ऐसी मान्यता में जोर से कहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)